श्रीमते रामानुजाय नमः ❀ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

-: श्रीभाष्य :-

हिन्दी अनुवाद समलंकृत

[एकादश भाग]

सम्पादकः-

जगद् गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र

स्वामी रामनारायणाचार्य जी

महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमंत् सं०म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य ४) रुपये | होलिकोत्सव २०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक

❀ समर्पण ❀

१००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्याभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पी० पष्ठ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय

श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस एकादश पुष्प से श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे। श्रीमत्कपदद्मनराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी।

अधिकरणार्थ सङ्ग्रह

योन्तः प्रविश्य हृदये प्रतनोति वाचम्
वाग्वैभवाद विरहितस्य ममापि लोके ।
सो विष्वगार्य यतिराड् जयताज्जगत्याम्,
नो भाग्य वर्धनधिया धृतमूर्तरूपः ॥

संवीक्ष्य शास्त्रनिचयस्य रहस्यभाव-
संवेपते नहि मनः क्रमते पथस्सु ।
श्रीभाष्य वर्णित सदर्थ ततेर्हि सारं-
संदर्श्य मे दिशतु तत्र गतिं मम यः ॥

श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद और छह अधिकरण । इन छह अधिकरणों को भी अध्ययन की दृष्टि से दो भाग में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम भाग में भगवान उपासक के हृदय, हृदयगुहा, और नेत्र से परिमित स्थानों सूक्ष्म सूक्ष्मरूप से उपास्य बतलाये गये हैं । दूसरेत्रिक में विश्व एवं त्रैलौक्य इत्यादि विस्तृत स्थानों में भगवान् उपास्य रूप से बतलाये गये हैं। इस तरह ये छहों अधिकरण दो भागों

में विभक्त होते हैं। इस पाद के प्रत्येक अधिकरण में भगवान् के एक-एक कल्याण गुण बतलाये गये हैं। पहले अधिकरण में बतलाया गया है कि चूंकि जगत् की सृष्टि स्थिति और सत्ता श्रीभगवान् के अधीन होती है, अतएव वे सभी रूपों में विराजमान हैं। दूसरे अधिकरण का अभिप्राय है कि श्रीभगवान ही सम्पूर्ण जगत् के संहार करने वाले है। तीसरे अधिकरण में बतलाया गया है कि भगवान् उपासना के लिए सदा नेत्रों में सन्निहित रहते हैं। चौथे अधिकरण में भगवान् को सबों का अन्तर्यामी बतलाया गया है। पांचवें अधिकरण में बतलाया गया है कि श्रीभगवान् उपासक की कल्पना मे द्युलोक इत्यादि को अपने शरीर का अंग बनाकर धारण करते रहते है। छठे अधिकरण का अभिप्राय है कि श्रीभगवान् द्युलोक इत्यादि अंगो से युक्त अपने शरीर का धारण करने वाले होने से वैश्वनार शब्दाभिधेय हैं।

श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में चौवालिस सूत्र और दश अधिकरण है। इस पाद का प्रारम्भ द्युभ्वाद्यधिकरण से होता है। 'यस्मिन्न् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं जानथात्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' (मु० मु० २ ख० २) अर्थात् जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष आश्रित हैं, तथा सभी प्राणो के साथ इन्द्रियाँ आश्रित हैं उस एक आत्मा को जान लें। इतरवाणियों

को छोड़ दें। जिस प्रकार नदी आदि में पुल कूल तक पहुंचा देता है, उसी प्रकार यह आत्मा संसार समुद्र के पारभूत अमृत तक पहुँचा देता है। यही वाक्य इस अधिकरण का विषय वाक्य है। इस वाक्य के विषय में यह शंका होती है कि इस मन्त्र के प्रतिपाद्य आत्मा जीवात्मा है या परमात्मा ? पूर्वपक्षी का कहना है कि वह आत्मा जीवात्मा ही है। क्योंकि उसे इन्द्रियों तथा नाड़ियों का आश्रय तथा जन्म मरण शीला बतलाया गया है। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए बतलाते हैं कि इस आत्मा को अमृत का सेतु बतलाया गया है। सेतु शब्द का अर्थ प्रतिकूल कूल का प्रतिलम्भक न होकर परंपद का प्रापक है। अथवा षिञ् बन्धने धातु से सेतु शब्द की व्युत्पत्ति मानने पर अर्थ होगा कि जो समान रूप से विना किसी संकोच के समस्त जड़ चेतन पदार्थों को धारण करे उसे सेतु कहते हैं। किञ्च नाड़ी संबन्ध भी जीव का धर्म न होकर परमात्मा का असाधारण धर्म। अतएव इस श्रुति में परमात्मा ही आत्मा शब्द वाच्य है।

इस पाद का दूसरा अधिकरण भूमाधिकरण है। (छा० उ० ७।२४।१) श्रुति बतलाती है कि—यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इस श्रुति में जिसे भूमा शब्द से अभिहित किया गया है वह कौन है ? जीव अथवा परमात्मा ? पूर्वपक्षी के जीवपरक विचारों का खण्डन करते हुए इस अधिकरण में यह बतलाया गया है कि परमात्मा

ही भूमा शब्द वाच्य है ।

यह ध्यान देने की बात है कि द्यु भ्वाद्यधिकरण में परमात्मा के कल्याण गुणों का वर्णन करते हुए परमात्मा विश्वात्मा बतलाया गया है । किन्तु इस अधिकरण में परमात्मा को विपुल सुख स्वरूप बतलाया गया है ।

तृतीय पाद का तीसरा अधिकरण अक्षराधिकरण है । (बृ० उ० अ० ५।८) में बतलाया गया है कि—'स होवाच एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेह मच्छायम्'—अर्थात् हे गार्गि, आपने जो आकाश के भी आधार बनने वाले तत्त्व के विषय में पूछा है वह तत्त्व यह अक्षर ही है । ऐसा ब्राह्मण (ब्रह्म तत्त्ववेत्ता) कहा करते हैं । वह अक्षर तत्व स्थूल नहीं है, अणु नही है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, लाल नहीं है, स्नेह रहित है, और छाया रहित है । यही श्रुति इस अधिकरण का विषय वाक्य है ।

इस श्रुति के विषय में पूर्वपक्षी का कहना है कि वह अक्षर शब्द वाच्य जीव अथबा प्रकृति ही हो सकता है परमात्मा नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृति ही सभी प्रकार के कार्य पदार्थों का आधार है । और जीवात्मा अचेतन तत्त्व का आधार है । अतएव ये दोनों ही अक्षर शब्द वाच्य हो सकते हैं । क्यों कि प्रश्न के अनुसार यह अक्षर तत्त्व ही आकाश पर्यन्त सभी कार्य पदार्थों का आश्रय बतलाया गया है । परमात्मा तो चेतनाचेतन

सभी पदार्थों से विलक्षण होने के कारण अलिप्त रहते हैं। फलतः वे इन सभी कार्य पदार्थों के आश्रय नहीं हो सकते हैं।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' श्रुति में अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा ही है, क्योंकि अम्बरान्त तत्वों के आधार वे ही हो सकते हैं। क्योंकि वायु युक्त आकाश को अम्बर कहते हैं। इस अम्बर का अन्त प्रकृति तत्व ही है। क्योंकि यह अम्बर का कारण होने से अम्बर का पारभूत है। कार्य का अन्त यही है कि वह अपने कार्य लीन हो जाय। यह जो अम्बर का अन्त अर्थात् कारण बनने वाला प्रकृति तत्व है, उसको धारण करने वाला यह अक्षर है। परमात्मा ही प्रकृति तत्व को धारण करते हैं। परमात्मा प्रकृति का अन्तर्यामी है। और प्रकृति परमात्मा का शरीर है। अतएव यह अक्षर तत्व परमात्मा ही है। किञ्च परमात्मा अपने प्रशासन के द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। अतएव अक्षर जीव नहीं हो सकता है। इर प्रकरण का आगे आने वाला 'अदृष्टे द्रष्टा' यह वाक्य ही बतलाता है कि अक्षर परमात्मा से भिन्न नहीं है।

इस पाद के चौथे इक्षति कर्माधिकरण का विषय वाक्य निम्न प्रश्नोपनिषत् की श्रुति है—'य पु-रेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनै वाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० उ० प्र० ५) अर्थात्—जो साधक तीन मात्रा वाले एकाक्षर प्रणव के द्वारा परमपुरुष का ध्यान करता है। इस प्रकार प्रारम्भ करके बाद में कहा गया

है कि वह साधक सामसन्त्रों के द्वारा ऊपर ब्रह्मलोक तक पहुँचा दिया जाता है। वह वहाँ जीवघन अर्थात् शरीरधारी जीव से श्रेष्ठ एवं परात्पर तथा शरीर में शयन करने वाले पुरुष का दर्शन करता है।

इस वाक्य के विषय में शंका होती है कि जिसे यहाँ ध्येय एवं दर्शन का विषय बतलाया गया है वह पुरुष कौन है? हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अथवा पुरुषोत्तम श्रीभगवान्? पूर्वपक्षी का कहना है कि उस पुरुष को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही मानना चाहिये। क्योंकि—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेण' श्रुति के द्वारा यह बतलाया गया है कि त्रिमात्र ओंकार की उपासना के द्वारा ब्रह्म-लोक को प्राप्त करके उसके द्वारा वहाँ परात्पर पुरुष का दर्शन करना बतलाया गया है। तो ब्रह्मलोक में पहुँचकर जो पुरुष का दर्शन होगा वह उस लोक के अधिपति ब्रह्माजी ही होंगे।

इस पर सिद्धान्ती ने यह बतलाया है कि वही ब्रह्मा भी कर्म परतन्त्र जीवों के अन्तर्गत आते हैं। अतएव उनके दर्शन का विधान श्रुति यहाँ नहीं करती है। जिस पुरुष के दर्शन का विधान श्रुति करती है, वह पुरुष परमात्मा ही हैं, क्योंकि उस दर्शनीय पुरुष को षडूर्मियों से रहित, जरा-मरण शून्य, भय रहित तथा सर्वश्रेष्ठ बतलाती है। ये सभी धर्म परमात्मा में ही पाये जाते हैं ब्रह्मा में नहीं। 'तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः' श्रुति भी बतलाती है कि नित्य; मुक्त

सूरिगण सदा भगवान् विष्णु के लोक का साक्षात्कार किया करते हैं ।

इस तरह तृतीय अक्षराधिकरण में परमात्मा को सम्पूर्ण जगत् का धारक एवं नियामक बतलाकर चतुर्थईक्षति कर्माधिकरण में बतलाया गया है कि परमात्मा मुक्त भोग्य हैं । पाञ्चवें दहराधिकरण में यह बतलाया गया है; कि इस हृदयाकाश में विद्यमान् अल्प परिमाण वाले परमात्मा सबों के आधार हैं । यहाँ पर यह बतलाया गया है कि दहरविद्या में वर्णित दहराकाश शब्द से परमात्मा को ही कहा गया है ।

छठे प्रमिताधिकरण में यह बतलाया गया है कि कठोपनिषद् में परमात्मा को अंगुष्ठ परिमाण वाला उपासना के सौविध्य के लिए बतलाया गया है । वस्तुतः वह अंगुष्ठ परिमाणक पुरुष ही सबों के नियामक हैं ।

देवताधिकरण में यह शंका की गयी है कि क्या परमात्मा के उपासक देवता भी हो सकते है । पूर्वपक्षी का कहना है कि देवताओं को तो ज्योतिरूप माना गया है । उनका शरीर तो होता नहीं है । अतएव वे शरीर के अभाव में किस प्रकार से परमात्मा की उपासना कर सकते हैं । अतएव केवल मनुष्य को ही परमात्मोपासना में सामर्थ्य स्वीकार करना चाहिये । सूत्रकार ने कहा है कि ऐसी बात नहीं है । देवताओं के भी शरीर का निर्देश श्रुतियाँ करती हैं । इस तरह परमात्मा देवों के भी उपास्य हैं ।

आठवें मध्वधिकरण का अभिप्राय है परमात्मा आदित्य वसु आदि का भी अन्तः नियामक होने के कारण उपास्य है। अपशूद्राभिकरण में शूद्रों का परमात्मोपासना में अनाधिकार बतलाकर दशवें अर्थान्तरत्वाधिकरण के द्वारा इस पाद को समाप्त करते हुए सूत्रकार श्रीवादरायण महर्षि बतलाये हैं कि परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के नाम रूप का निर्वाहक है। अगले बारहवें भाग में हम श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय के चतुर्थ भाग के अधिकरणों की विस्तृत चर्चा अपने अधिकरण संग्रह नामक अग्रलेख में करेंगे।

परमाचार्य चरणों का अकिञ्चन

श्रीधर

❀ श्रीः ❀

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

—: हिन्दी श्रीभाष्य :—

(एकादश भाग)

दहराधिकरण का प्रारम्भ

७८ दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१३॥

भाष्य—इदमामनन्ति च्छन्दोगाः ❀ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्य-दन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ❀इति । तत्र सन्देहः—किमसौ हृदयपुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाशो महा-भूतविशेषः, उत प्रत्यगात्मा, अथ परमात्मेति । किं ताव-द्युक्तम् ? महाभूतविशेष इति । कुतः ? आकाशशब्दस्य भूताकाशे ब्रह्मणि च प्रसिद्धत्वेऽपि भूताकाशे प्रसिद्धिप्रक-र्षात्, ❀तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमित्यन्वेष्टव्यान्तरस्याधार-तया प्रतीतेश्च ॥

अनु०—छान्दोग्योपनिषद् के हर विद्या में वर्णित दहरा कोश शब्द वाच्य परमात्मा ही है। (छा० ८ । १) के बाद क मन्त्रों में आए हुए हेतुओं के द्वारा निश्चित होता है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

छान्दोग्योपनिषद् का अध्ययन करने वाले (छा० ८ । १ । १) श्रुति में आम्नान करते हैं—अब दहर विद्या के प्रारम्भ में यह बतलाया जाता है कि उपासक के शरीर रूपी ब्रह्म की नगरी में छोटा हृदय रूपी ब्रह्म का जो निवास स्थान है उसके भीतर रहने वाला सूक्ष्म आकाश और उसके भीतर जो है उसका ही निश्चय रूप से अन्वेषण करना चाहिए, तथा उसकी ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। अर्थात् श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा उसका ही ध्यान करना चाहिये।

अब यहां पर यह सन्देह होता है कि क्या इस हृदय कमल के भीतर रहने वाला दहरा काश शब्द वाच्य कोई महा-भूत विशेष है? अथवा जीवात्मा है ? या परमात्मा है ? क्या मानना ठीक है? पूर्व पक्षी का कहना है कि उन महाभूत विशेष ही मानना चाहिये। क्योंकि आकाश शब्द को आकाश नामक महाभूत के अर्थ में अत्यन्त प्रसिद्ध है। और उसके भीतर जो रहने वाला है उसका ही अन्वेषण करना चाहिये। इस श्रुति में वह उससे भी भिन्न जो अन्वेषणीय वस्तु है वह उसका आधार रूप से प्रतीत होता है।

टिप्पणी:—इक्षति कर्माधिकरण में यह बतलाया गया

है कि—'परात्पर पुरिशयं पुरुषम्' श्रुति के द्वारा वर्णित परम पुरुष परमात्मा ही है। इस दहराधिकरण में यह बतलाया जाता है कि पुरिशय शब्द के द्वारा कहा गया जो आकाश उसका वाच्य परमात्मा ही है महाभूताकाश अथवा जीवात्मा नहीं। पहले ईक्षति कर्माधिकरण में ब्रह्मलोक शब्द को परमात्मा का स्थान सिद्ध किया गया है। इस अधिकरण में यह सिद्ध किया जा रहा है कि ब्रह्मलोक तथा ब्रह्मपुर दोनों शब्द ब्रह्म के स्थान के वाचक हैं। ईक्षति कर्माधिकरण में यह बतलाया गया है कि अन्तरिक्ष शब्द प्रसिद्ध अन्तरिक्ष का वाचक नहीं है। उसी तरह इस अधिकरण में यह बतलाया जाता है कि आकाश शब्द प्रसिद्ध भूताकाश का वाचक नहीं है।

मूल—इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—दहर उत्तरेभ्यः । दहराकाशः परं ब्रह्म; कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः इति निरुपाधिकात्मत्वमपहतपाप्मत्वादिकं सत्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वं चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणाः दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञापयन्ति। ॐअथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यादिना ॐयं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते

इत्यन्तेन दहराकाशवेदिनस्सत्यसङ्कल्पत्वप्राप्तिश्चोच्यमाना दहराकाशं परं ब्रह्मेत्यवगमयति ।

अनु०—उपर्युक्त प्रकार पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म ही हैं । क्योंकि यह आत्मा कर्मपारतन्त्र रहित, जरा, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास से रहित तथा सत्यकाम एवं सत्य संकल्पत्व के गुण से युक्त हैं ।' (छा० ८ । १) इस श्रुति में वर्णित स्वाभाविक आत्मत्व कर्मपारतन्त्र्य रहित्व, आदि गुण तथा सत्यकामत्व एवं सत्यसंकल्पत्व जो दहराकाश के गुण सुने जाते हैं, उससे पता चलता है कि दहराकाश शब्द वाच्य परं ब्रह्म ही हैं ।

किञ्च—और जो उपासक, बल के अपहत प्राप्मत्व आदि को तथा इसके सत्य संकल्पत्व आदि कल्याण गुणों की उपासना करके परलोक जाते हैं । वे ब्रह्म की बिभूति भूत सभी बिकार लोकों का अनुभव करके यथेच्छरूप से तृप्त होकर पुनः पारतन्त्र्य का अनुभव नहीं करते हैं ।' (छा० ८ । १ । ६) यहां से लेकर वह मुक्त पुरुप जिस अभिलाषित वस्तु की कामना करता है वह उसके संकल्प मात्र से ही उस मुक्त पुरुष के समक्ष उपस्थित हो जाता है । (छा० ८ । २ । १०) उस श्रुति पर्यन्त बतलाया गया है कि दहराकाश को जानने वाले को सत्यसंकल्पत्व नामक गुण की प्राप्ति हो जाती है । अतएव इससे पता चलता है कि दहराकाश परं ब्रह्म ही हैं ।

टिप्पणी—यहा पर दहराकाश शब्द का वाच्यार्थ पर ब्रह्म को ही बतलाया गया है। दहर शब्द हृदयाकाश का वाचक है। उसमें रहने वाला आकाश शब्द वाच्य पर ब्रह्म ही है। आकाश शब्द की व्युत्पत्ति यहाँ पर आङ् समन्तात काशते प्रकाशते इति आकाशः यह समझना चाहिये। और निरुपाधिक रूप से प्रकाशमान पर ब्रह्म ही हैं।

मूल—*यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे नोपपद्यते। हृदयावच्छेदनिबन्धन उपमानोपमेयभाव इति चेत, तथा सति हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते ॥

ननुच दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि बाह्याकाशोपमेयत्वं न संभवति *ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षादित्यादौ सर्वस्माज्ज्यायस्त्वश्रवणात्। नैवम् दहराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्यवर्तित्वप्रासाल्पत्वनिवृत्तिपरत्वादस्य वाक्यस्य; यथा अधिकजवेऽपि सवितरि 'इषुवद्गच्छति सविता' इति वचनं गतिमान्द्यनिवृत्तिपरम्।

अनु०—किञ्च यह जो जिस तरह जितना यह भूताकाश विपुल है। इस तरह का उपमान उपमेय भाव भी नहीं बन सकता

है। यदि दहराकाश को भूताकाश का वाचक माना जाय। क्योंकि उपमानोपमेय होने के लिए दोनों पदार्थों में भिन्नता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि पूर्व पक्षी यह कहें कि यहां पर उपमान उपमेय भाव इसलिए बन जा सकता है कि यह जो हृदयाकाश है उसकी महाभूताकाश के साथ उपमा दी गयी है। उसके वैपुल्य नामक गुण को लेकर। तो यह भी कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि हृदयावच्छिन्न जो आकाश है वह द्युलोक और पृथिवी लोक का आश्रय नहीं हो सकता है। और इस दहर विद्या के प्रकरण में दहराकाश को द्युलोक पृथिवी लोक आदि सबों का आश्रय बतलाया गया है। इस पर यदि पूर्वपक्षी यह शंका करें कि दहराकाश को परमात्मा का भी वाचक मानने पर वह भूताकाश उपमेय नहीं हो सकता है। क्योंकि उस परंब्रह्म के विषय में (छा० ३।१४) में—'वह परंब्रह्म पृथिवी से बढकर है।' यह सुना जाता है। यह श्रुति बतलाती है कि परंब्रह्म स्वेतर समस्त वस्तुओं से महान् है। तो पूर्वपक्षी की यह भी शंका उचित नहीं होगी। क्योंकि— 'यावान् वा अयमाकाश.' श्रुति ब्रह्म के हृदय पुण्डरीक के भीतर रहने के कारण प्राप्त अल्पत्व निवृति मात्र करता है। यह उसी तरह समझना चाहिये कि जिस तरह अधिक तीव्र गति वाले सविता के गति की मन्दता का निषेधमात्र 'सूर्य वाण के समान तेज चलता है' यह वाक्य करता है, उसी तरह यह वाक्य भी दहराकाश शब्द वाच्य सर्व व्यापक परमात्मा के अल्पत्व की

निवृत्ति मात्र करता है। न कि उसके वास्तविक परिमाण को बतलाता है।

मूल—अथ स्यात्- ❀एष आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिना दहराकाशो न निर्दिश्यते, ❀ दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमिति दहराकाशान्तर्वर्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृतत्वादिह ❀एष आत्माऽपहतपाप्मेति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं युक्तत्वात्; स्यादेतदेवम्, यदि श्रुतिरेव दहराकाशं तदन्तर्वर्तिनं च न व्यभाङ्क्ष्यत; व्यभाङ्क्षीत्तु सा; तथाहि ❀अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमिति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहितपरब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं निर्दिश्य तन्मध्यवर्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेश्मतयाऽभिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रितवात्सल्यैकजलधिमुपासकानुग्रहाय तस्मिन् वेश्मनि सन्निहितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य तदन्तर्वर्ति चापहतपाप्मत्वादिस्वभावतो निरस्तनिखिलहेयत्वमसत्यकामत्वादिस्वाभाविकानवधिकातिशयकल्याणगुणजातं च ध्येयं ❀तदन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते। अत्र ❀तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्देन दह-

राकाशम्, तदन्तर्वर्ति गुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते; ॐयदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मेत्यनूद्य तस्मिन् दहरपुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशः; यच्च तदन्तर्वर्तिगुणजातम्, तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः ।

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि- 'एष आत्माऽहत-पाप्मा' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा दहराकाश का नहीं निर्देश किया जाता है, अपितु 'हृदय नामक जो अल्प आकाश है उसके भीतर जो विद्यमान हैं उसी का अन्वेषण करना चाहिये ।' इस श्रुति में वर्णित दहराकाश के भीतर रहने वाले उसी का वर्णन किया गया है, क्योंकि उस दहराकाश से भिन्न ही तदन्तर्वर्ती अन्वेष्टव्य है । अतएव उसी के प्रकृत विषय होने के कारण यहाँ पर 'एष आत्माऽहतपाप्मा' इस श्रुति के द्वारा उसी का निर्दिष्ट करना उचित है । तो इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसा तब हो सकता था यदि श्रुति ही दहराकाश तथा उसके भीतर रहने वाले में कोई भेद नहीं प्रतिपादन करती । किन्तु श्रुति ही निम्न ढंग से उन दोनों में भेद बतलाती है—और जो ब्रह्म के निवास स्थान भूत ब्रह्म की नगरी शरीर के भीतर छोटा कमलाकृति छोटा हृदयरूपी निवास स्थान है, उसमें रहने वाले आकाश शब्द वाच्य परमात्मा तथा उस परमात्मा में रहने वाले अखिल कल्याण गुणाकरत्व रूपी सत्य

इस श्रुति में 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इस अंश के द्वारा हृदयाकाश का अनुवाद करके उस अल्प कमलाकृति हृदयाकाश रूपी गृह में जो दहराकाश है और दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा में स्वाभाविक अखिल हेय प्रयत्नीकत्व एवं अखिल कल्याण गुणाकरत्व रूपी जो गुण समूह हैं उन दोनों की श्रवण, मनन, निदिध्यासन पूर्वक उपासना करनी चाहिये इस अर्थ का श्रुति के शेषांश के द्वारा विधान किया जाता है।

टिप्पणी—इत्यनुद्य—प्रभृति वाक्य का अभिप्राय है कि अद्वैती विद्वानों ने यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे इत्यादि श्रुति की व्याख्या करते हुए कहा है कि उस दहर पुण्डरीक वेश्म में जो उसके भीतर रहने वाली दहराकाश नामक वस्तु है उसका अन्वेषण करना चाहिये। श्रीभाष्यकार स्वामी जी का कहना है कि—'यदिदं दहरं पुण्डरीकं वेश्म' उसमें रहने वाला जो दहराकाश नामक वस्तु वही पुण्डरीक वेश्म (हृदयाकाश) का आधार बतलाया गया है फिर दुसरी बार भी उसी दहराकाश को 'तस्मिन् यदन्त.' इत्यादि पद के द्वारा पुण्डरीक वेश्म का आधार बतलाना तो व्यर्थ ही होगा। किन्तु 'तस्मिन् यदन्तः' इत्यादि श्रुति को उस दहराकाश के गुणों का आपादक मानने में कोई दोष नहीं होगा अतएव उक्त श्रुत्यंश को दहराकाश के कल्याण गुणों का विधायक मान लेना चाहिये किञ्च 'तस्मिन् यदन्तः' श्रुति के अव्यवहित पूर्व में दहराकाश बतलाया गया है

उसको छोड़कर व्यवहित पूर्वोक्त पुण्डरीक वेश्म का परामर्शक तत् पद को मानना भी उचित नहीं होगा। अतएव यही अर्थ मानना चाहिये कि जो उस दहराकाश=शब्द वाच्य परमात्मा में कल्याण गुणाकरत्व रूप गुण समूह हैं उसका भी ध्यान करना चाहिये।

मूल—दहराकाशशब्दनिर्दिष्टस्य परब्रह्मत्वं *तस्मिन्यदन्तः इति निर्दिष्टस्यच तद्गुणत्वम्, तच्छब्देनोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्टव्यतया विधानं च कथमवगम्यत इति चेत्; तदवहितमनाश्शृण—*यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः इति दहराकाशस्यातिमहत्तामभिधाय *उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि * इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभिधाय, यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्त्समाहितम् इति पुनरप्यस्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य, तस्मिन्नस्योपासकस्येहलोके यद्भोग्यजातमस्ति, यच्च मनोरथमात्रगोचरमिह नास्ति, सर्वं तद्भोग्यजातमस्मिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाशस्याभिधाय,

तस्य दहराकाशस्य देहावयवभूतहृदयान्तर्वर्त्तित्वेऽपि देहस्य जराप्रध्वंसादौ सत्यपि परमकारणतयाऽतिसूक्ष्म-त्वेन निर्विकारत्वमुक्त्वा, तत एव *एतत्सत्यं ब्रह्म-पुरमिति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुरं निखि-लजगदावासभूतमित्युपपाद्य, *अस्मिन्कामास्समाहिताः इति दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य, काम्यभूतांश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य, तेषां दहराकाशान्तर्वर्तित्व-मुक्त्वा, तदेव दहराकाशस्य काम्यभूतकल्याणगुणवि-शिष्टत्वं तस्यात्मत्वंच *एष आत्माऽपहतपाप्मेत्या-दिना *सत्यसङ्कल्पः इत्यन्तेन स्फुटीकृत्य *यथा ह्ये-वेह प्रजा अन्वाविशन्तीत्यारभ्य *तेषां सर्वेषु लोके-ष्वकामचारो भवतीत्यन्तेन तदिदं गुणाष्टकं तद्विशिष्टं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टयात्मानं चाविदुषामेतद्व्यतिरिक्त-भोग्यसिद्धये च कर्म कुर्वतामन्तवत्फलावाप्तिमसत्यस-ङ्कल्पत्वं चाभिधाय *अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रज-न्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यादिना दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदन्त-र्वर्तिनश्च काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिकान्गुणान्विजान-

तामुदारगुणसागरस्य तस्य परमपुरुषस्य प्रसादादेव सर्वकामावाप्तिस्सत्यसङ्कल्पता चोच्यते । अतो दहरा- काशः परं ब्रह्म, तदन्तर्वर्ति चापहतपाप्मत्वादि काम्य- गुणजातम्, तदुभयमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमिति चोच्यत इति निश्चीयते । तदेतद्वाक्यकारोऽपि स्पष्ट- यति *तस्मिन्यदन्तरिति कामव्यपदेशः इत्यादिना । अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाशः परमेव ब्रह्म ॥१३॥

अनु०—दहराकाश शब्द के द्वारा निर्दिष्ट जो परंब्रह्मत्व है उसको तथा 'तदस्मिन् यदन्तः' इस श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट सत्यसंकल्पत्वादि गुण समूह का जो ब्रह्म गुणत्व है, इन दोनों का तत् शब्द से परामर्श करके, उन दोनों के उपास्य रूप से श्रुति विधान करती है, इस अर्थ का पता कैसे चलता है ? यदि यह शंका पूर्व पक्षी करते हैं तो वे सावधान होकर सुनें— 'यह हृदय के भीतर रहने वाला जो दहराकाश है वह भूताकाश के ही समान व्यापक है' इस श्रुति के द्वारा दहराकाश की अत्यन्त महत्ता को बतलाकर -इस दहराकाश के ही भीतर द्युलोक तथा पृथ्वी लोक दोनों स्थित हैं । वायु तथा अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रमा एवं विद्युत तथा नक्षत्र ये सभी युगल उसी दहराकाश के भीतर स्थित हैं ।' यह श्रुति प्रस्तुत दहराकाश का ही अस्मिन् उस पद से निर्देश करके उसी दहराकाश को

ही सम्पूर्ण जगत का आधार बतलाती है। पुनः 'यच्चास्ये हास्ति यच्चनास्ति सर्वं तदस्मिन्त्समाहितम्' इस श्रुति में भी अस्मिन् इस पद के द्वारा उसी दहराकाश का परामर्श करके बतलाया गया है कि इस दहरोपासक के इस लोक में जो योग्य वर्ग हैं और जो केवल मनोरथ मात्र से ही विषय भूत, किन्तु इस लोक में उस उपासक के लिए अप्राप्य भोग्यवर्ग हैं उसके वे सम्पूर्ण भोग्यवर्ग इस दहराकाश में विद्यमान हैं। इस तरह इस श्रुति में दहराकाश की सर्वाधिक भोग्यता को बतलाकर उस दहराकाश के देह के अङ्गभूत हृदय के भीतर रहने पर भी देह के जरा (बुढ़ापा) प्रध्वंश (नाश) आदि होने पर भी वह सर्वोत्कृष्ट कारण होने के कारण, तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी प्रकार से भी विकार ग्रस्त नहीं होता है। 'तत एवैतत् सत्यम् ब्रह्मपुरम्।' यह श्रुति बतलाती है कि उपर्युक्त गुण विशिष्ट होने के कारण यह दहराकाश नामक निर्विकार (सत्य) ब्रह्मपुर है अर्थात् ब्रह्म नामक सम्पूर्ण जगत का आश्रयभूत है। पुनः 'अस्मिन् कामाः समाहिताः' इस श्रुति में अस्मिन् इस पद के द्वारा उसी दहराकाश का निर्देश किया गया है तथा उस परमात्मा के अभिलाषित (काम्य) कल्याण गुणों को काम शब्द के द्वारा अभिहित करके बतलाया गया है कि वे कल्याण गुण समूह परमात्मा के ही भीतर विद्यमान हैं। इस तरह अकल्याणकारी गुणों के आश्रय रूप से उसे बतलाकर, उस दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा के उसी कल्याण गुण रूपी विशे-

षणों से विशिष्टता को तथा उसके व्यापकत्व रूप आत्मत्व को 'एव आत्माऽपहतपाप्मा' अर्थात् यह परं ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् में व्यापक होने के कारण निरुपाधिक आत्मा तथा कर्मपारतन्त्र्य रहित है।' इत्यादि से लेकर 'सत्य संकल्पः' पर्यन्त श्रुति के द्वारा स्पष्ट किया गया है। और 'यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति अर्थात् जिस तरह लोक में प्रजायें इस लोक में राजा के शासन के अनुसार ही फल को प्राप्त करती है। (छा० ८। १। ५) इस श्रुति से प्रारम्भ करके 'तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।' [अर्थात् उन दहराकाश तथा उस दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा के गुणों की उपासना नहीं करने वालों को लौकिक राज सेवादिजन्य फलों के समान क्षयिष्णु फलों की प्राप्ति होती है। अतएव उनका सभी लोकों में सथेष्ट गमन नहीं होता है।] (छा० ८। १। ६) इस श्रुति पर्यन्त यह बतलाया गया है कि उपर्युक्त अपहृत पाप्मत्वादि गुणाष्टकों को तथा उन गुणाष्टकों से विशिष्ट दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा को नहीं जानने वाले को अखिल कल्याण गुणगायविशिष्ट परमात्म से भिन्न फल की प्राप्ति के लिए कर्मों को करने वाले उपासकों के क्षयिष्णु फल की प्राप्ति को तथा असत्य संकल्पत्व को बतलाकर 'पुनः जो उपासक इस लोक में दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा तथा उसके गुणों को मानकर परलोक गमन करते हैं उनका सभी लोको में यथेष्ट गमन होता है। (छा० ८। १। ६) इस श्रुति के द्वारा दहराकाश शब्द वाच्य

परमात्मा तथा उस परमात्मा में रहने वाले अभिलषणीय अप-हतपाप्मत्व (कर्मपारतन्त्र्यराहित्य) आदि गुणों को विशेष रूप से जानने वालों को उस कल्याण गुण सागर परम पुरुष पर-मात्मा की कृपा से ही सभी कामनाओं की प्राप्ति तथा सत्य संकल्पत्व की प्राप्ति को श्रुति बतलाती है।

अतएव दहराकाश शब्द के द्वारा पर ब्रह्म ही कहे गये हैं और उस परमात्मा के भीतर पाये जाने वाले अभिलषणीय कर्म पारतन्त्र्य रहित्व आदि गुण समूह है उन दोनों को ही श्रवण मननादि के द्वारा अन्वेष्टव्य तथा उपास्यरूप से श्रुति बतलाती है यह निश्चित होता है। इसी अर्थ को वाक्यकार भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं–'तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेशः' इत्यादि अर्थात् 'तस्मिन् यदन्तः' इस पद के द्वारा (छा० ८। १।१) श्रुति परमात्मा के काम्य कल्याण गुण समूह को ही बतलाती है। अतएव इन्हीं उपर्युक्त हेतुओं के द्वारा सिद्ध होता है कि—दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म ही है।

७६ गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च।१।३।१४

मूल०-इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म, *तद्यथा हिरण्यनिधि निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवे-मास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः इति एतमिति प्रकृतं दहरा-

काशं निर्दिश्य तत्राहरहस्सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनम् गन्तव्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशश्च दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः। कथमनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमित्यत आह–तथाहि दृष्टमिति। परस्मिन्ब्रह्मणि सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुषुप्तिकाले गमनमन्यत्राभिधियमानं दृष्टम्–*एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सति संपद्य न विदुस्सति सपद्यामह इति* इति, *सत आगम्य न विदुस्सत आगच्छामह इतीति च। तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः *एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाचेति। मा भूदन्यत्र ब्रह्मणि गमनदर्शनम्, एतदेव तु दहाराकाशे सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिकालेऽवस्थानं श्रूयमाणमस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम्। तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च समानाधिकरणवृत्त्यास्मिन्दहाराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तरनिरपेक्षं पर्याप्तं लिङ्गमित्याह–लिङ्गं चेति। निषादस्थपतिन्यायाच्च षष्ठीसमासात्समानाधिकरणसमासो न्याय्यः॥

अनु०—चूँकि (छा० ८।३।१) श्रुति में प्रकृत दहराकाश को ही एवम् शब्द के द्वारा निर्देश करके उसी में सभी जीवों का गमन श्रुति बतलाती है, तथा गन्तव्य उस दहराकाश को ही ब्रह्मलोक शब्द से श्रुति निर्देश करती है । अतएव दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म परमात्मा ही हैं । यह ससूत्र का 'गति शब्दाभ्याम्' अंश बतलाता है । अब प्रश्न यह उठता है कि इन सभी जीवों का सदा गमन तथा दहराकाश का ही ब्रह्मलोक शब्द के द्वारा अभिधान इन दो हेतुओं के द्वारा हर दहराकाश के ब्रह्मत्व की सिद्धि कैसे होती है ? तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—तथाहि दृष्टम्—अर्थात् [छा० ६।९।२] तथा [छा० ६।१०।२] श्रुतियों में भी सुषुप्ति काल में सभी जीवों का परंब्रह्म में ही गमन सुना जाता है । किञ्च [बृ० ६।३।३३] श्रुति में भी परंब्रह्म के लिए ब्रह्मलोक शब्द का प्रयोग देखा जाता है । इस दहराकाश में ही सुषुप्ति काल में प्रलयकाल के समान सभी जीवों का लीनत्व श्रवण दहराकाश के परंब्रह्मत्व में पर्याप्त लिङ्ग है तथा उसका सामानाधिकरण्येन ब्रह्मलोकत्वाभिधान भी परंब्रह्मत्व की सिद्धि में, साधननिरपेक्ष लिङ्ग है । इस अर्थ को 'लिङ्गं च' यह ससूत्र का अंश बतलाता है । (यह इस सूत्र का अर्थ हुआ ।)

इसलिए भी दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म है कि— छा० ८।३।१) जिस तरह भूमि के नीचे गड़ी हुई सम्पति को न जानने वाले सम्पत्ति युक्त क्षेत्र के स्वभाव ज्ञान से रहित

जीव रात दिन उस सम्पत्ति के ऊपर से चलते हुए भी उस निधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं उसी तरह सारी प्रजाएँ सुषुप्तिकाल में प्रतिदिन ब्रह्म से अभेद को प्राप्त करके भी उस दहराकाश नामक ब्रह्मलोक (परंब्रह्म) को नहीं प्राप्तकर पाती हैं। क्योंकि वे अज्ञानाच्छन्न हैं।' (छा० ८।३।१) इस श्रुति में एवम् पद के द्वारा प्रस्तुत दहराकाश परंब्रह्म का निर्देश करके, उसी परंब्रह्म में सभी जीवों का प्रतिदिन गमन और गन्तव्य उस दहराकाश का ब्रह्मलोक शब्द से निर्देश भी बतलाता है कि दहराकाश शब्द परंब्रह्म का ही वाचक है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये दोनों (सभी जीवों का दहराकाश में प्रतिदिन गमन तथा उसका ब्रह्मलोक शब्द से अभिधान) किस तरह से दहराकाश के परंब्रह्मत्व के साधक हो सकते हैं? तो इसका उत्तर है कि—तथाहि दृष्टम्—अर्थात् देखा जाता है कि अन्य श्रुतियों में भी सभी जीवों का सुषुप्ति काल में प्रति दिन ब्रह्म में गमन सुना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् की (६।८) श्रुति बतलाती है कि–हे सोमरस पानार्ह श्वेतकेतो! इसी प्रकार ये सभी प्रजाएँ सुषुप्तिकाल में ब्रह्म से अभेद को प्राप्त कर भी इसे नहीं जान पाती हैं कि हम सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म को प्राप्त कर रहे हैं।' (छा० ६।१०) श्रुति में कहा गया है कि—'सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म में आकर वे जीव नहीं जान पाते हैं कि हम सुषुप्ति काल में ब्रह्म में आकर मिल रहे हैं।'—किञ्च (बृ० ६।३३) ब्रह्मलोक शब्द का प्रयोग परंब्रह्म

के अर्थ में देखा जाता है वह श्रुति कहती है—'याज्ञवल्क्य ने कहा है सम्राट् अर्थात् राजा जनक यह ब्रह्मलोक है। ब्रह्मव्यतिरिक्त चतुर्मुख ब्रह्मा आदि में जीवों का गमन होता। यह सुषुप्तिकाल में प्रलयकाल में जिस तरह सभी जीव अपने आश्रय भूत परंब्रह्म में स्थित हो जाते हैं उस तरह सभी दुखों से रहित होकर जीवों का दहराकाश मे स्थित होना जो श्रुति में सुना जाता है वही दहराकाश के परंब्रह्म होने में पर्याप्त लिङ्ग है। किञ्च सामानाधिकरण्येन जो ब्रह्मलोक शब्द का इस दहराकाश के लिए प्रयोग सुना जाता है वह भी इसके परंब्रह्मत्व मे प्रयोगान्तर निरपेक्ष पर्याप्त लिङ्ग है। इस ब्रह्मलोक शब्द में निषादस्थपति न्याय के अनुसार षष्ठी समास की अपेक्षा समानाधिकरण समास (कर्मधारय समास) ही मानना उचित है।

टिप्पणी—एतद्देवतु—इत्यादि वाक्य में यह बतलाकर कि जिस तरह प्रलयकाल में सभी प्रजाओं का अपने आश्रयभूत परंब्रह्म में गमन सुना जाता है उसी प्रकार सभी जीवों का दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म में गमन श्रवण भी उनके परब्रह्मत्व में पूर्ण प्रमाण है। यहाँ पर यह अनुमान अभिप्रेत है—दहराकाशं परंब्रह्म, सुषुप्तौ प्रजाना लयाधारत्वात्, प्रलये प्रजानां लयाधारपरंब्रह्मवत्। किञ्चयः सुषुप्तौ प्रजानां लयाधारो न भवति सः परंब्रह्म न भवति, यथाऽन्ये जीवाः।

ब्रह्मलोक पद में ब्रह्मणःलोकः यह षष्ठी समास की व्यु-

त्ति न समझकर ब्रह्मैव लोक: यह कर्मधारय का विग्रह समझना चाहिये । क्योंकि—'एतया निषादस्थपतिं याजयते' इस वाक्य में घटकीभूत निषादस्थपति शब्द के विषय में शंका होती है कि निषादस्थपति शब्द में कौन सा समास होना चाहिये ? निषादानां स्थपतिः (राजा) अथवा निषादश्चासौ स्थपतिः ।' दोनों में कौन सा समास मान्य है । तो-यदि यहाँ कर्मधारय समास मानना औचित्य इसलिए नहीं संभव हो पाता है कि निषाद जातीय स्थपति [राजा] की अग्निविद्याएँ संभव नहीं है । क्योंकि निषादों का अग्निविद्या में अधिकार नहीं है । और षष्ठी समास मानने पर यह अर्थ किसी तरह माना जा सकता है कि निषादों का त्रैवर्णिकान्तर्भूत कोई स्थपति हो, जिसका निर्देश श्रुति करती है । अतएव अपशूद्राधिकरण में प्रोक्त न्यायानुसार उसका निर्वाह संभव है । इस तरह के पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर महर्षि जैमिनि धारय समास का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—'स्थपतिर्निषादस्स्यात् शब्दसामर्थ्यात् ।' अर्थात् षष्ठी समास मानने पर निषाद संबन्ध विशिष्ट को ही निषादस्थपति शब्दाभिधेय मानना पड़ेगा और कर्मधारय समास मानने पर निषादत्वविशिष्ट को उसका अभिधेय मानना होगा । किन्तु श्रुति को यदि त्रैवर्णिक ही राजा [जो निषादों का भी राजा हो] का पूजन विधान अभिप्रेत होता तो यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का भी निर्देश श्रुति अवश्य करती । किन्तु श्रुति में षष्ठी विभक्ति का निर्देश नहीं देखा जाता है । अतएव

पता चलता है कि यहाँ पर श्रुति को निषादत्वविशिष्ट राजा (स्थपति) का ही पूजन अभिप्रेत है। अतएव निषादस्थपति शब्द में कर्मधारय समास ही मानना चाहिये न कि षष्ठी तत्पुरुष। इसी तरह प्रकृत श्रुति निर्दिष्ट ब्रह्मलोक शब्द में भी 'ब्रह्मणः लोकः' यह विग्रह नहीं स्वीकार करके ब्रह्म चाऽसौ लोकः यह विग्रह स्वीकार करना चाहिये। अतएव 'ब्रह्मलोक' शब्द वाच्य दहराकाश ही है। ब्रह्मलोक शब्द चतुर्मुख ब्रह्मा के लोक का भी वाचक नहीं हो सकता है, क्यों कि प्रतिदिन सुषुप्तावस्था में जीवों का चतुर्मुखलोक में गमन संभव नहीं है।

मूल—अथवा *अहरहर्गच्छन्त्य इति न सुषुप्तिविषयं गमन-मुच्यते, अपि त्वन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः—सर्वस्मिन्काले वर्तमानाः तमजानन्त्यस्तं न विन्दन्ति—न लभन्ते, यथा हिरण्यनिधिं निहितं तत्स्थानमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लभन्ते, तद्वदित्यर्थः। सेवमेवमन्तरात्मत्वेन स्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नियमितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। तथा ह्यन्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनियाम्याभिस्स्वास्मिन्वर्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं

दृष्टम् । यथा अन्तर्यामिब्राह्मणे ॐय आत्मनि तिष्ठन्नात्म-
नोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो
यमयतीति; ॐअदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोतेति च । मा भूदन्यत्र
दर्शनमुस्वयमेव त्रियं निर्दिष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थभावस्या-
स्य हृदयस्थस्योपरि तदाधारतयाऽहरहस्सर्वदा सर्वासां प्रजाना-
मजानतीनां गतिरस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम् ॥१४॥

अनु०—अथवा 'अहरहर्गच्छन्त्यः' इस श्रुति में सुषुप्ति विषयकमन को नहीं बतलाया जा रहा है, अपितु इस श्रुति में बतलाया जा रहा है कि जो अन्तरात्मा रूप से सर्वदा विद्यमान रहता है। इस परमपुरुषार्थभूत दहराकाश के ही उपर्युपरिअहर-हर्गच्छन्त्यः = उपर सर्वदा विद्यमान रहनेवाली तथा उसको अपनी अन्तरात्मा रूप से नही जानने वाली प्रजाएं उस दहराकाश नामक अपनी अन्तरात्मा भूत परमात्मा को–न विदन्ति नहीं प्राप्त कर पाती है। यह उसी तरह से है कि जिस तरह सुवर्ण को खान वाली पृथिवी के ऊपर से सर्वदा चलने वाली प्रजाएं उस सुवर्ण के खान को न जान सकने के कारण उसके ऊपर सर्वदा रहती हुई भी उस सुवर्ण को नहीं प्राप्त कर पाती हैं। यह अहरहर्गच्छन्त्यः श्रुति का अभिप्राय है। इस तरह अन्तरा-त्मा रूप से विद्यमान तथा जो सभी प्रजाओं का नियामक है, उस दहराकाश को अपने नियामक तथा अन्तरात्मा रूप से नहीं जानने वाली सभी प्रजाओं की दहराकाश के ऊपर गति

ही दहराकाश के परं ब्रह्मत्व को बतलाता है। इसी तरह दूसरी श्रुतियों में भी अपनी अन्तरात्मा रूप से विद्यमान परं ब्रह्म के आश्रित प्रजाओं के द्वारा परं ब्रह्म का नहीं जानना देखा जाता है। जैसे अन्तर्यामी ब्राह्मण में—एक श्रुति बतलाती है कि—जो आत्मा के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा भी अन्तरङ्ग (अन्तरात्मा) है, जिसको अपनी अन्तरात्मा रूप से आत्मा नहीं जानती। यह आत्मा जिसका शरीर है तथा जो आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन किया करता है।' एक दूसरी श्रुति बतलाती है कि—'वह परमात्मा सर्वों का सर्वज्ञ होने के कारण निरुपाधिक द्रष्टा है, किन्तु उस परमात्मा को कोई अपने नेत्रों का बिषय नहीं बना पाता है। तथा जो परमात्मा सबों का निरुपाधिक श्रोता है उसे कोई अपने श्रवण का सतस्त्येन विषय नही वना पाता है। किञ्च यदि दूसरी श्रुतियों में इन अर्थों को न भी देखा जाय तो भी इस अहरहगच्छन्त्यः' श्रुति के निधि दृष्टान्त के द्वारा स्वयं इसके परम पुरुषार्थ स्वरूप हृदयस्थ परमात्मा के आधार रूप से प्रतिदिन सर्वदा सभी प्रजाओं की जो उसे (दहराकाश नामक परमात्मा को) अपनी अन्तरात्मा रूप से नहीं जानती; उनकी गति ही इस दहराकाश के परं ब्रह्मत्व में पर्याप्त लिङ्ग है।

इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म—

८० धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१५॥

मूल—❀अथ य आत्मेति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य ❀स

सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदायेत्यस्मिञ्जगद्विधरणं श्रूयमाणं दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति; जगद्विधरणं हि परस्य ब्रह्मणो महिमा *एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपति रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदायेति, *एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः इत्यादिभ्यः । स चायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्याख्यो महिमाऽस्मिन्दहराकाश उपलभ्यते; अतो दहराकाशः परं ब्रह्म ॥१५॥

अनु०—इस लिए भी दहराकाश शब्द वाच्य परं ब्रह्म ही है कि—'धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः' । १ । ३ । १५ ॥अर्थात् चूंकि इस परं ब्रह्म की धृति जगद् धारणत्व नामक महिमा [ऐश्वर्य] इस दहराकाश विषयक श्रुतियों में उपलब्ध होती है; अतएव दहराकाश में उपलब्ध होती है, अतएव दहराकाश शब्द वाच्य परं ब्रह्म ही है; यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

'इसके बाद जो दहराकाश आत्मा है' [छा० ८।४।१] इस श्रुति में इस छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रतिपाद्य दहराकाश का निर्देश करके, 'वहीं पहले के तीन खण्डों में वर्णित गुण गणों से विशिष्ट दहराकाश नामक परमात्मा इन सभी धर्मों को साङ्कर्य से अपने प्रशासन के द्वारा बचाने का कारण होने से जगत् का धारक है । उसी पर सम्पूर्ण जड़

चेतन सविकारा आवृत है। अतएव वह सेतु शब्दाभिधेय है।'
(छा० ८।४।१) इस श्रुति में सुना गया लोक धारकत्व दहराकाश के परंब्रह्मत्व को बतलाता है। परंब्रह्म की यही महिमा है कि वह जगत् का विधारक है। इस बात का पता निम्न श्रुतियों से चलता है। वे हैं-यह परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् का नियमक है। यह सभी भूतो का अधिपति एवं सभी भूतों का पालक है। यह सम्पूर्ण जड चेतन जगत् को को अपने में सविकाश धारक होने के कारण सेतु है तथा यह सम्पूर्ण लोको को असांकर्य का कारण है। परमात्मा के प्रशासन के ही कारण पृथिवी मे गन्ध एव जल में शीत स्पर्शवत्व है।, (बृ० ६।४।२) हे गार्गि निश्चय ही इस विकार रहित परमात्मा के प्रशासन में सूर्य एवं चन्द्रमा नियमित होते है। (बृ० ५।८।६) इस तरह की प्रसिद्ध जो यह परमात्मा की जगद् विधारकत्व नामक महिमा है, वह इस दहराकाश में उपलब्ध होती है। अतएव दहराकाश परं ब्रह्म है।

८१ प्रसिद्धेश्च ।१।३।१६।।

मूल—आकाशशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि प्रसिद्धः *को ह्येवा-न्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् *सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते इत्यादिषु । अपहतपाप्मत्वादिगुणसनाथा प्रसिद्धि भूताकाश प्रसिद्धिर्बलीयसीत्यभिप्रायः ।।१६।।

अनु——अर्थात् चूँकि आकाश शब्द तैत्तिरीयोपनिषद् के आनन्द बल्ली तथा छान्दोग्योपनिषत्की (१।९।१) श्रुति में आकाश शब्द परब्रह्म के अर्थ में प्रसिद्ध है, अतएव भी दहराकाश शब्द वाच्य परब्रह्म ही है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

और 'आकाश शब्द परब्रह्म के अर्थ में प्रसिद्ध है। 'यदि यह प्रकाशमय अपरिच्छिन्नानंद स्वरूप परमात्मा न होता तो फिर कौन अनन लक्षण–लौकिक सुखों को तथा प्राणन स्वरूप पारलौकिक सुखों को प्राप्त कर सकता था अतएव परब्रह्म ही लौकिक एवं पारलौकिक सुखोपभोग का कारण है।' (तै० आ० अ० ७) तथा "निश्चय ही ये सभी भूत आकाश शब्द वाच्य सर्वतः प्रकाशमान परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं। (छा० १।९) इत्यादि श्रुतियों में आकाश शब्द परमात्मा के ही अर्थ में प्रसिद्ध है। अतएव कर्म पारतन्त्र्य राहित्यादि से युक्त आकाश शब्द की परमात्मा के अर्थ में प्रसिद्ध भूताकाश के अर्थ में होने वाली भूताकाश के अर्थ में आकाश शब्द की प्रसिद्धि की अपेक्षा अधिक बलवान है। यही सूत्रकार का अभिप्राय है।

मूल—एवं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रतिक्षिप्तम्। अथेदानीं दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमाशङ्क्य निराकर्तुमुपक्रमते–

८२ इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभात् ।१।३।१७।।

यदुक्तं वाक्यशेषवशाद्दहराकाशः परं ब्रह्मेति,

तदयुक्तम्, वाक्यशेषे न ह्यादितरस्यत्र जीवस्यैव साक्षा-
त्परामर्शात् ॐअथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्स-
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते
एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म ॐइति ।
यद्यपि ॐदहरोऽस्मिन्नन्तर आकाश इति हृदयपुण्डरी-
कमध्यवर्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमेयभावाद्यसं-
भवाद्भूताकाशत्वं न संभवति, तथापि वाक्यशेषव-
शात्प्रत्यगात्मत्वं युक्तमाश्रयितुम् । आकाशशब्दोऽपि
प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्तिष्यत इति चेत्, अत्रो-
त्तरं—नासंभवादिति । नायं जीवः, न ह्यपहतपाप्म-
त्वादयो गुणा जीवे संभवन्ति ॥१७॥

अनु०—इस तरह उपर्युक्त (१ । ३ । १६) सूत्र में पूर्व पक्षी के दहराकाश शब्द वाच्य भूताकाशत्व की शंका का खण्डन किया गया । अब इस [१ । ३ । १७] सूत्र में दहराकाश के जीवात्म वाचकत्व की शंका करके उसके निराकरण का उपक्रम करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—इतर परामर्शात् स इति चेन्ना संभवात् ॥ १ । ३ । १७ ॥ अर्थात पूर्व पक्षी ने यह जो कहा था कि वाक्य शेष में परब्रह्म से भिन्न जीव का ही साक्षात् परा-मर्श होने के कारण आकाश शब्द वाच्य भी प्रकाशादि के योग के कारण जीव का ही वाचक है, तो यह भी पूर्व पक्षी की

शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अपहतपाप्मत्वादिगुण जीवों का होना असम्भव ही है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

सिद्धान्ती ने जो यह कहा है कि—वाक्य शेष के कारण सिद्ध होता है कि दहराकाश परं ब्रह्म ही है। तो सिद्धान्ती का यह कथन युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि वाक्य शेष में परमात्मा से भिन्न जीव का ही साक्षात परामर्श किया गया है। (वाक्य शेष में जीव सम्बन्धी शब्द के द्वारा जीव का परामर्श न करके जीव के वाचक शब्द के द्वारा उसका परामर्श किया गया है। वाक्य शेष निम्न प्रकार से है—यह जो मुक्त सम्प्रसाद (जीव) है, वह इस शरीर से निकल कर परं ज्योति स्वरूप परमात्मा से मिल जाता है। यही आत्मा है। इस बात को प्रजापति ने कहा कि यह आत्मा ही अमृत तथा भय रहित है और यही ब्रह्म है। इसलिए यद्यपि 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः इस श्रुति में वर्णित दहराकाश जो हृदय कमल के भीतर विद्यमान रूप से वर्णित है उसका उपमानोपमेयभाव असम्भव होने से वह दहराकाश भूताकाश नहीं माना जा सकता है फिर भी वाक्य शेष के कारण उस दहराकाश को जीवात्मा मान लेना ठीक है। क्योंकि आकाश शब्द भी 'आङ् समन्तात् काशते प्रकाशते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकाश आदि के योग [संयोग] के कारण जीव का वाचक हो सकता है। यह यदि पूर्व पक्षी कहे तो उसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं।

नासम्भवात्=दहराकाश जीवात्मा का वाचक नहीं हो

सकता है क्योंकि दहराकाश की जो अपहतपाप्मत्व आदि विशेषताएं बतलायी गयी है, वह किसी जीव में पाया जाना असम्भव है।

८३. उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु १।३।१८॥

मूल—उत्तरात्—प्रजापतिवाक्यात्, जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणयोगो निश्चीयत इति चेत्। एतदुक्तं भवति—प्रजापतिवाक्यं जीवपरमेव। तथाहि *य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पस्सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यस्स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति* इति प्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेणोपश्रुत्यान्वेष्टव्यात्मस्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेदुषे मघवते प्रजापतिर्जागरितस्वप्नसुषुप्त्यवस्थं जीवात्मानं सशरीरं क्रमेण शुश्रूषुयोग्यतापरीचिक्षिषयोपदिश्य तत्रतत्र भोग्यमपश्यते परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते *मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्* इति शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृतामशरी-

रस्य च तस्यामृतत्वस्वरूपतां चोक्त्वा *न ह वै सश-
रीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति; अशरीरं वाव
सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः इति कर्मारब्धशरीरयो-
गिनस्तदनुगुणसुखदुःखभागित्वरूपानर्थं तद्विमोक्षे च तद-
भावमभिधाय *एवमेवैष संप्रासादोऽस्माच्छरीरात्स-
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते
*इति जीवात्मनस्स्वरूपमेव शरीरवियुक्त मुपदिदेश ।
*स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः
स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरी-
रम् *इति प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वम्,
निवृत्ततिरोधानस्य परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य प्रत्यगात्मनो
ब्रह्मलोके यथेष्टभोगावाप्तिम्, प्रियाप्रियवियुक्तकर्म-
निमित्तशरीराद्यपुरुषार्थानुसन्धानं चाभिधाय *स यथा
प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः
इति यथोक्तस्वरूपस्यैव ससारदशायां कर्मतन्त्र शरीर-
योग युग्यशकटयोगदृष्टान्तेनाभिधाय *अथ यत्रैतदाकाश-
मनुविषण्णं चक्षुस्स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ
यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ

यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्, अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य (दिव्यं) दैवं चक्षुरिति चक्षुरादीनां करणत्वं रूपादीनां ज्ञेयत्वमस्य च ज्ञातृत्वं प्रदर्श्य तत एव शरीरेन्द्रियेभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य *स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके इति तस्यैव विधूतकर्मनिमित्तशरीरेन्द्रियस्य मनशब्दाभिहितेन दिव्येन स्वाभाविकेन ज्ञानेन सर्वकामानुभवमुक्त्वा *तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आप्तास्सर्वे च कामाः *इत्येवंविधमात्मानं ज्ञानिनो जानन्तीत्यभिधाय *सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच इत्येवंविधमात्मानं विदुषस्सर्वलोकसर्वकामावाप्त्युपलक्षितं ब्रह्मानुभवं फलमभिधायोपसंहृतम् । अतस्तत्रापहतपाप्मत्वादिगुणको ज्ञातव्यतया प्रक्रान्तो जीव एवेत्यवगतम् । अतो जीवयापहतपाप्मत्वादयस्संभवन्ति । अतो दहरवाक्यशेषे

श्रूयमाणस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणासंभवात्स एव दहराकाश इति निश्चीयते—इति चेदिति ।

अनु०—यदि पूर्व पक्षी कहें कि आगे के प्रजापति के द्वारा उपदिष्ट वाक्यों से तो अपहत पाप्मत्वादि गुणों का विधान जीव के ही लिए किया गया है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रजापति वाक्य में पहले अविद्या से तिरोहित स्वरूप वाले कर्मबन्धों से युक्त तथा विद्या प्राप्ति के पश्चात् आविर्भूत गुणाष्टक जीवों के लिए ही अपहत पाप्मत्वादि का विधान किया गया है। किन्तु यहां दहरविद्या में तो स्वभावतः अपहत पाप्मत्वादि गुण सम्पन्नता दहराकाश के बतलाये गये हैं। अतएव प्रजापति वाक्योदित अपहत पाप्मत्वादि से दहरविद्योक्त अपहत पाप्मत्वादि गुणों में भिन्नता है। अतएव दहरविद्योक्त स्वाभाविक अपहत पाप्मत्वादि गुण सम्पन्न दहराकाश शब्द वाच्य जीव नहीं हो सकता है। क्योंकि नित्य जीवों का भी अपहत पाप्मत्वादि स्वाभाविक गुण नहीं होकर परमात्मा के सत्य संकल्प के अधीन ही हुआ करता है। यह उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु सूत्र का अर्थ है।

यदि पूर्व पक्षी कहें कि—उत्तरात्=प्रजापति के वाक्यों से निश्चित होता है कि अपहत पाप्मत्वादि गुणों का योग जीव में ही पाया जाता है। पूर्वपक्षी के कहने का अभिप्राय है कि—छान्दोग्योपनिषद् में आठवें अध्याय का सातवें खण्ड से प्रारंभ होने वाला प्रजापति वाक्य तो जीव परक ही है। क्योंकि—जो

आत्मा कर्मपारतन्त्र्य जरा, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास से रहित है तथा सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्व गुणों से युक्त है उसको उसका अन्वेषण करना चाहिए तथा उसकी विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। जो उस आत्मा के स्वरूप का श्रवण करके ध्यान करता है वह सभी लोकों तथा कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। (छा० ८।७।१) इस प्रजापति के वाक्य को इतिहास रूप से आकाशवाणी के द्वारा सुनकर आत्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा से प्रजापति के सन्निकट में (ब्रह्मचारी रूप से) गये हुए इन्द्र को प्रजापति ने जाग्रत अवस्था तथा सुषुप्तावस्था में रहने वाले आत्मा के स्वरूप को शुश्रुषु इन्द्र की योग्यता की परीक्षा करने के लिए क्रमशः उपदेश देकर उन दोनों (जागतावस्थावस्थित तथा सुषुप्तावस्थावस्थित जीव स्वरूपों) में भोग्यत्व का अनुभव नहीं करने वाले, परिशुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानने के अधिकारी उस इन्द्र को—"हे इन्द्र। मर्त्य होने के कारण यह शरीर सर्वथा मृत्यु परिगृहीत है। वह तो इस अमृत शरीर रहित आत्मा के भोगों को प्राप्त करने का स्थान मात्र है।" (छा० ८।१२।१) इस श्रुति में प्रजापति ने शरीर को भोगों का अधिष्ठान, तथा आत्मा को उसका अधिष्ठाता तथा कर्मकृत प्राकृत शरीर रहित जीव के अमृतत्व स्वरूपता को बतलाकर कहा—निश्चय ही कर्मकृत शरीर से युक्त जीवात्मा के प्रिय=सुख एवं, अप्रिय=[दुःख] का विनाश (सर्वथा अभाव) नहीं होता (अपितु उसे तब तक सुख दुःख

मिला ही करते हैं, क्योंकि कर्मकृत शरीर से सम्बन्ध रहने पर
उसके कार्यभूत सुख दुःख का होना अनिवार्य ही है।) और
प्रसिद्ध है कि जीव का कर्मकृत शरीर सम्बन्ध समाप्त हो जाने
पर उसको सुख दुःख नहीं स्पर्श कर पाते हैं।" (क्योंकि
आविर्भूत गुणाष्टक हो जाता है। [छा० ८।१२] इस श्रुति
के द्वारा कर्मकृत शरीर से युक्त जीवों को शरीरानुकूल सुख दुः
भागित्व रूप अनर्थ को तथा शरीर का सम्बन्ध समाप्त हो
पर सुख दुख की प्राप्ति का अभाव बतलाकर "इसी तरह य
मुक्तात्मा इस प्राकृत शरीर से निकलकर परं ज्योति स्वरू
परमात्मा को प्राप्त कर आविर्भूत गुणाष्टक रूप अपने स्वरू
को प्राप्त कर लेता है।" [छा० ८।१२] इस श्रुति में शरी
से विमुक्त जीवात्मा के स्वरूप को ही उपदेश दिया। "व
उत्तम पुरुष प्राप्य परमात्मा है। वह परमात्मा के सन्निकट
जाने वाला आविर्भूत गुणाष्टक मुक्तात्मा स्त्रियों, यानों त
अपने बान्धवों के साथ हर प्रकार से अनुभव करता है।
इस स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर [उपजन
को याद भी नहीं करता है।' [छा० ८।१२] इस श्रुति
प्राप्य परं ज्योति के पुरुषोत्तमत्व को तथा जिसका अज्ञानान्धक
समाप्त हो गया है उस परं ज्योति [परमात्मा] के सन्नि
में पहुंचे जीवात्मा के ब्रह्म लोक में इच्छानुकूल भोगों की प्र
को; तथा सुख दुख से रहित कर्मजन्य शरीर आदि पुरु
के अनुसंधान [स्मरण] के अभाव को भी बतलाकर—

प्रसिद्ध वैल अथवा घोड़ा जिस तरह रस्सी के द्वारा गाड़ी में बँधा रहता है।' [छा० ८। १२] इस श्रुति में उपर्युक्त स्वरूप वाले ही जीव की संसार दशा में कर्म परतन्त्रता तथा शरीर के सम्बन्ध को अश्व अथवा बैल एवं गाड़ी के संयोग के दृष्टान्त के द्वारा कहा गया है।

और जिसमें निबद्ध होकर (अनुविषण्ण) नेत्र "आकाश प्रकाश) अथवा रूप को प्रकाशित करता है वह नेत्र रूपी उपकरण से युक्त आत्मा है। नेत्र तो उसके देखने का साधन है। और जो जानता है कि मै यह (सुगन्धित पदार्थ) सूँघता हूँ वह आत्मा है। नासिकेन्द्रिय तो गन्ध के ग्रहण करने का साधन है। और जो यह जानता है कि मै यह बोल रहा हूँ वही आत्मा है, वाणी तो बोलने का साधन मात्र है। और जो यह जानता है कि मै यह शब्दों को सुन रहा हूँ वही आत्मा है, श्रोत्रेन्द्रिय तो उसके सुनने का साधकतम है। और जो यह जानता है कि मै यह मनन कर रहा हूं वही आत्मा है, मन तो इसका दिव्य नेत्र है।" [छा० ८। १२ ।४] इस श्रुति में चक्षु-रादि इन्द्रियो को साधकतम [रूप आदि को जानने का साधन] रूप आदि को ज्ञेय [जानने के योग्य विषय] तथा इस आत्मा को ज्ञाता बतलाकर और उस बतलाने के ही माध्यम से इस जीवात्मा को शरीर तथा इन्द्रिय आदि से भिन्नता को बतला-कर 'निश्चय ही यह प्रसिद्धि शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न कर्म कृत शरीर तथा इन्द्रियों से रहित होकर अपने स्वाभाविक दिव्य

मनरूपी नेत्र के द्वारा पूर्वोक्त ब्रह्मलोक शब्द से कहे गये दहराकाश में विद्यमान सभी [सर्वलोक सर्वकाम शब्द से उपलक्षित ब्रह्मानुभव] को प्राप्त करके प्रमोद का अनुभव करता है।' [छा० ८। १२। ५] इस श्रुति में कर्मकृत शरीर तथा इन्द्रियों से रहित मुक्त जीवात्मा के मनः शब्द के द्वारा उक्त स्वाभाविक ज्ञान रूप के द्वारा सभी भोग्य पदार्थों के अनुभव को बतलाया गया है।

'इस तरह से प्रजापति के द्वारा इन्द्र के लिए आत्मा का उपदेश किये जाने के कारण इसी प्रकार के आत्मा के स्वरूप को इन्द्र के द्वारा सुनकर सभी देवता उस आत्मा के स्वरूप की उपासना करते हैं। अतएव उन देवताओं को सर्वलोक तथा सवकाम शब्द के द्वारा उपलक्षित ब्रह्मानुभव की प्राप्ति होती है। [छा० ८। १२। ६] इस श्रुति में बतलाकर की इस प्रकार से ही ज्ञानी जन आत्मा के स्वरूप को जानते हैं; "जो उस आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप का श्रवण करके उसकी उपासना करता है, उस मनुष्य को भी सभी लोकों एवं सभी काम्य पदार्थों की प्राप्ति होतीहैं। ऐसा प्रजापति ने कहा।"[छा० ८।१२।६] इस श्रुतिमें उपयुक्त प्रकारक गुणाष्टक सम्पन्न आत्मा के स्वरूप को जानने वाले को सभी लोकों तथा सभी कार्यों की प्राप्ति के द्वारा उपलक्षित ब्रह्मानुभाव रूपी फल को बतलाकर इस प्रत्यगात्मविद्या का उपसंहार किया गया है। इससे ज्ञात हुआ कि इस प्रत्य-

गात्म विद्या में अपहत पाप्मत्वादि गुण सम्पन्न जीव का ही उप क्रम किया गया है। अतएव अपहत पाप्मत्वादि गुण जीव के सम्भव हैं। दहर विद्या के वाक्य शेष में सुने गये जीव के अप- हत पाप्मत्वादि गुणों के सम्भव होने के कारण वह जीव ही दहराकाश शब्द से कहा गया है, यह निश्चित होता है।' यदि पूर्व पक्षी यह शंका करे तो।

मूल—तत्राह-आविर्भूतस्वरूपस्तु इति। पूर्वमनृततिरोहितापह- तपाप्मत्वादिगुणक स्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धशरीरात्स- मुत्थितः परं ज्योति रूप संपन्न आविर्भूतस्वरूपम्सन्नपहत- पाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽभिधीयते; दहर- वाक्ये त्वतिरोहितस्वभावापहतपाप्मत्वादि विशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते। आविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्या- संभावनीयस्सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वादयस्सत्यशब्दनिर्व- चनावगतं चेतनाचेतनयोर्नियन्तृत्वं दहराकाशस्य परब्रह्मत साधयन्ति। सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वादयः आविर्भूतस्व- रूपस्यापि न संभवन्तीति ❀जगद्व्यापारवर्जमित्यत्रोपपाद यिष्यामः ॥१८॥

अनु०—तो पूर्वपक्षी की उक्त शंका उत्तर देते हुए सूत्र- कार कहते है—'आविर्भूत स्वरूपस्तु' अर्थात् मुक्त होने से पू

संसारावस्था में जिनके अविद्या (अज्ञान) के द्वारा अपहतपाप्मत्व आदि गुणों से युक्त स्वरूप का तिरोधान हो गया होता है पुनः विद्या की प्राप्ति हो जाने पर कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर (देहपात के समय) इस पाञ्चभौतिक शरीर से निकल कर परं ज्योति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके आविर्भूत स्वरूप होने के कारण (अपहतपाप्मत्व आदि गुणाष्टक) से युक्त जीव प्रत्यागात्मविद्या के प्रजापति वाक्य में कहा गया है । किन्तु दहरविद्या के आलोचन से तो पता चलता है कि यहाँ पर जिस दहराकाश का वर्णन किया गया है वह अविद्या के द्वारा तिरोहित स्वभाव वाला नहीं है यथा अपहत पाप्मत्वादि गुणों से युक्त है । किञ्च आविर्भूत स्वरूप वाले भी जीवों के लिए तथा दहराकाश के धर्मरूप से श्रुतियों में वर्णित सभी जड़ चेतनों को विना किसी संकोच के अपने में शरीर रूपसे धारण करना रूप) सेतुत्व संपूर्ण लोकों का आधारत्व आदि तथा सत्य शब्द के निर्वचन से ज्ञात सम्पूर्ण ड़-चेतनों का नियामकत्व इस अर्थ को सिद्ध करते हैं कि दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म ही है । हम (श्रीभाष्यकार) चौथे अध्याय के 'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्र० सू० ४।४।१७) में इस बात को सिद्धि करेंगे कि सेतुत्व तथा जगद्धारकत्व आदि गुण उन जीवों के भी असंभव हैं जो मुक्ता वस्था में आविर्भूत गुणाष्टक हो जाते हैं ॥१८॥

टिप्पणी—छान्दोग्योपनिषद् के (८।३।४) श्रुति में सत्य शब्द का निर्वचन इस प्रकार से श्रुति करती है—तस्य हवा

एतस्य ब्राह्मणो नाम सत्यम् । तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत् ति यमिति । तदयत् सत तदमृतम् । अथ तत ति तन्मर्त्यम । अथ यद् यम् तेनोभे यच्छति यदनेनो भे यच्छति, तस्मात् यम् अहरहर्वा एवं वित् स्वर्गं लोकमेति । (छा०८।३।४) अर्थात् उस दहराकाश शब्द वाच्य परब्रह्म का नाम सत्यम है । इस सत्यम शब्दमें तीन अक्षरों का संयोग है । सत ति और यम । इसमें जो सत है वह अमत चेतन का वाचक है । और जो ति है वह मर्त्य [जड़ प्रकृति] का वाचक है । और जो सत्यम् का यम है उसके द्वारा वह अमृतत्व एवं मर्त्यत्वोपलक्षित चेतना चेतनो का नियामक है । चूंकि यह दोनो [चेतनाओं] का नियामक है अतएव यह 'यम' है सत्यम् शब्द वाच्य परमात्मा को इस प्रकार से जो जानता है वह सर्वदा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ।

मूल—यद्येवं दहरवाक्ये *अथ य एष संप्रसाद इत्यादिना जीवप्रस्तावः किमर्थ इति चेत, तत्राह—

८४ अन्यार्थश्च परामर्शः ।१.३।१६।।

दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वजराद्यभरत्वादि-वन्मुक्तस्य तदुपसपत्त्याऽपहतपाप्मत्वादिकल्याणगुणावि-शिष्टस्वाभाविकरूपप्राप्तिकथनेन तद्धेतुत्वाख्य परमपु-रुषासाधारणं गुणमुपदेष्टु प्रजापतिवाक्योक्तस्य जीव-स्यात्र परामर्शः । प्रजापतिवाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपया-

थात्म्यविज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तम् । ब्रह्मप्रेप्सोर्हि जीवात्मनस्स्वस्वरूप च ज्ञातव्यमेव; स्वयमपि कल्याण गुण एव सन्ननवधिकातिशयासख्येयकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुभविष्यतीति ब्रह्मोपासनफलान्तर्गतत्वात्स्वरूपयाथात्म्यविज्ञानस्य । *सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च-कामान् *स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन् इत्यादिकं प्रजापतिवाक्ये कं दृश्यमान फलमपि दहरविद्याफलमेव ॥१९॥

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि-यदि दहराकाश शब्द परमात्मा का ही वाचक है तो फिर 'अथ य एष सम्प्रसादः' (छा० ८।३।४) अर्थात् यह जो सुषुप्तावस्था वस्थित जीव है' इत्यादि श्रुति में जीव का वर्णन आ गया ? तो इस शका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'अन्यार्यश्च परामर्शः' ॥१ ३।१९॥

अर्थात् इस दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म के प्रकरण में 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय' इत्यादि श्रुति में जीव का परामर्श, मुक्तावस्था में उसके अपहत पाप्मत्वादि स्वरूप को आविर्भूत कर्तव्य रूप परमात्मा की महिमा का प्रकाशन करने के लिए किया गया है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

जिस तरह दहराकाश परंब्रह्म के ही अपहत्त पाप्मत्व, जगविधारणत्व आदि गुण हैं, उसी तरह परमात्मा की प्राप्ति

के द्वारा मुक्त जीव को अपहत पाप्मत्वादि कल्याण गुणविशिष्ट स्वाभाविक रूप की प्राप्ति का कथन श्रुति के द्वारा किये जाने के कारण उस अपहत पाप्मत्वादि के कारण रूप से परम पुरुष के लिए असाधारण गुण का उपदेश करने के लिए प्रजापति वाक्य में वर्णित जीव का यहाँ परामर्श किया गया है। [अब प्रश्न यह उठता है कि यदि दहरविद्या ही मोक्ष का उपाय है तो फिर यहाँ पर जीवोपासना का विधान इस दहर विद्या में क्यों किया गया ? और उसके फल का वर्णन क्यों किया गया है तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं) प्रजापति वाक्य में मुक्तात्मा के स्वरूप का वास्तविक विज्ञान का वर्णन दहर विद्या के उपयोगी रूप से किया गया है। [अब प्रश्न यह उठता है कि परमात्मोपासना में परब्रह्म का ही रूप वेद्य होता है फिर यहाँ अनुपास्य जीवात्मा के स्वरूप विज्ञान का क्या उपयोग हो सकता है ? तो इसका उत्तर है कि] ब्रह्म की प्राप्ति के इच्छुक जीवात्मा का अपना स्वरूप भी प्राप्य

वस्तु के अन्तर्गत होने के कारण ज्ञातव्य ही है। क्योंकि जीव स्वयं भी-कल्याण-गुणगण सम्पन्न होकर ही सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्येय कल्याण गुण समुदाय वाले परब्रह्म का मुक्तावस्था में वह अनुभव करेगा इस तरह ब्रह्मोपासना के फल के अन्तर्गत होने के कारण जीवात्मस्वरूप का याथात्म्य विज्ञान भी दहर विद्योपयोगी ही है। किञ्च प्रत्यागात्म विद्या के प्रजापति वाक्य में 'वह आत्मविद्या का उपासक लौकिक पारलौकिक सभी

-कामनाओं को प्राप्त करता है ।' तथा उस ब्रह्मलोक में लौकिक पारलौकिक सभी काम्य पदार्थों का उपभोग करता हुआ जीव हर प्रकार से उस परमात्मा का अनुभव करता है ।' इत्यादि श्रुतियों में वर्णित फल भी दहर विद्या के ही फल हैं ॥१९॥

८५ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥१।३।२०॥

मूल—*दहरोऽस्मिन् इत्यल्पपरिमाणश्रुतिराराग्रोपमितस्य जीवस्यैवोपपद्यते, न तु सर्वस्माज्ज्यायसो ब्रह्मण इति चेत्, तत्र यदुत्तर वक्तव्यम्, तत्पूर्वमेवोक्तं *निचाय्यत्वादेवमित्यनेन । अतो दहराकाशोऽनाद्याविद्याद्यशेषदोषगन्धः स्वाभाविकनिरतिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजः प्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तम एव । प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टस्तु *घ्नन्ति त्वेनैनं विच्छादयन्ति इत्येवमादिभिरवगत्कर्मनिमित्तदेहपरिग्रहः पश्चात्परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूप इति न दहराकाशः ॥२०॥

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि 'दहरो स्मिन्' (छा० ८।१।१) श्रुति में दहराकाश का अल्प परिणाम श्रुति बतलाती है । इससे पता चलता है कि यहाँ पर दहराकाश शब्द अराग्रोपमित अणु परिमाण वाले जीव को ही बतलाता

है, न कि महतो महीयान् परंब्रह्म को । अतएव दहराकाश शब्द वाच्य जीव को ही मानना चाहिये । तो इस शंका का समाधान हम 'निच्चाय्यत्वादेवं' [ब्र० सू० १।२।७] उस सूत्र खण्ड में ही कर चुके है । इस सूत्र खण्ड का अभिप्राय है कि अपन हृदय में अन्तर्यामी रूप से अपहत पात्मत्वादि विशिष्ट सकल कल्याण गुण सागर परमात्मा की उपासना करने के लिए श्रुति दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा का अल्प परिमाणत्व बतलाती है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'दहरोऽस्मिन्' [छा० ८।१।१] श्रुति में दहराकाश का अल्प परिमाण बतलाने वाली श्रुति आर के अग्र भाग से जिसकी उपमा दी गयी है उस जीव के ही प्रतिपादन में उपपन्न होती है, न कि सबों से महान् ब्रह्म के प्रतिपादन में । अतएव दहराकाश शब्द वाच्य जीवात्मा ही है परंब्रह्म नहीं । तो इस शंका का जो उत्तर देना चाहिये उसको पहले ही 'निचाय्यत्वादेवम्' [ब्र० सू० १।२।७] इस सूत्र खण्ड में कहा जा चुका है । [उसको पुनः यहाँ कहने की कोई आवश्यकता नहीं है । उसको वहीं देख लेना चाहिये ।] अत-एव जिनको अविद्या आदि जितने दोष हैं उन सबों की गन्ध तक भी कभी नहीं लगी है, स्वाभाविक रूप से सर्वोत्कृष्ट ज्ञान बल; ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति एवं तेज आदि सीमातीत कल्याणकारी गुणों के एकमात्र आश्रय पुरुषोत्तम ही दहराकाश शब्द वाच्य हैं । और प्रजापति वाक्य में वर्णित 'ध्नन्तित्वे वैनं विच्छाद-

यन्ति ।' (छा० ८।१०।२।।) अर्थात् इस स्वप्नास्थावस्थित जीवात्मा को तो स्वप्न में मानों कोई मारता है, मानों कोई घसीटता है' इत्यादि वाक्यों द्वारा ज्ञात कर्मजन्य शरीर धारण तथा मुक्ति के पश्चात् परंज्योति परंब्रह्म को प्राप्त कर उन्हीं की कृपा से अपहतपाप्मत्वादि अपने स्वरूप वाला जीवात्मा दहराकाश नहीं हो सकता है ।

मूल—इतश्च तदेवम्—

८६ अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।।२१।।

तस्य—दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः, अनुकारात् अयमपहतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्तबन्धः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः । तदनुकारः—तत्साम्यम् । तथाहि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारश्श्रूयते *यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमिशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।। इति । अतोऽनुकर्ता प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टः । अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः ।।२१।।

अनु०—इसलिए भी दहराकाश ब्रह्म ही है कि—

अनुकृतेस्तस्य च ।।१।३।२१।।

अर्थात् तस्य=उस दहराकाश शब्द वाच्य परंब्रह्म के अनुकारात्=समता के द्वारा भी यह अपहत पाप्मत्वादि गुणों

से युक्त मुक्तात्मा जीव दहराकाश शब्द वाच्य नहीं हो सकता है। (यह सूत्रार्थ श्रीभाष्यकार स्वामी अक्षरार्थ के साथ लिखते हैं।) इस सूत्र का अनुकार शब्द अनुकरण अथवा अभिनय का वाचक न होकर समता का ही वाचक है। कहने का आशय है कि मुक्तात्मा जीव की परब्रह्म से समता श्रुति बतलाती है। (मु० ३।१।३) श्रुति बतलाती है कि—जब ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला मुक्तात्मा पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् में कर्ता, सम्पूर्ण जगत् के नियामक तथा प्रकृति एवं ब्रह्मा (चतुर्मुख) के भी उपादान कारणभूत परपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, उस समय वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष बन्धन के मूल भूत पुण्य पापरूपी कर्मों को समाप्त कर, वासना रहित होकर, परमात्मा की, अविर्भूत गुणाष्टक-होने के कारण अपहत पाप्मत्वादि गुण युक्तता रूपी परमसमता को प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रजापति वाक्य में निर्दिष्ट अपहत पाप्मत्वादि गुण सम्पन्न परब्रह्म की समता को प्राप्त करने वाला अनुकर्ता जीव है और दहराकाश शब्द वाच्य अनुकार्य ब्रह्म हैं।

८७ अपि स्मर्यते ।१।३।२२॥

मूल—संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्तिलक्षणः परब्रह्मानुकारः स्मर्यते *इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ इति ॥

केचित् *अनुकृतेस्तस्यच*अपि स्मर्यते इति सूत्र-द्वयमधिकरणान्तरं *तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यस्याश्श्रुतेः परब्रह्मपरत्वनिर्णयाय प्रवृत्त वदन्ति । तत्तु *अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः * द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् इत्यधिकरणद्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्मविषयत्वप्रतिपादनात् *ज्योतिश्चरणाभिधानात् इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भास्वपत्वावगतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानादयुक्तम्, सूत्राक्षरगौरव्यं च ।। २२ ।।

अनु०—स्मृतियाँ भी ससारी जीव की भी मुक्तावस्था में परम समता की प्राप्ति रूपी ब्रह्म को अनुकृति को बतलाती है। यह सूत्रार्थ हुआ। (गीता० १४।२) में भी कहा गया है कि—'इस चतुर्दश अध्याय में वक्ष्यमाण ज्ञान को प्राप्तकर मेरी परम समता रूप मुक्ति को प्राप्त करके जीव सृष्टि एवं प्रलय के विषय नहीं बनते हैं।'

कुछ ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार 'अनुकृतेस्तस्य च ।।१।३।२१।। तथा अपिस्मर्यते ।।१।३।२२।। इन दो सूत्रों का दहर अधिकरण से भिन्न अधिकरण मानकर इनका प्रयोजन तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।' (मु० २।२।१०) अर्थात् उस परमात्मा के ही प्रकाशित होते रहने पर ये सभी सूर्य चन्द्र अग्नि प्रकाशित होते रहते हैं। उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण

तैजरन पदार्थ चमकता रहता है।" इस श्रुति के परम ब्रह्मपरत्व का निर्णय बतलाते हैं। किन्तु—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥१।२।२२॥ तथा द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१।३ १०॥ इन दो अधिकरणों के द्वारा ही उस मुण्डकोपनिषत् के प्रकरण को परं ब्रह्म के प्रतिपादन परत्व का निर्णय कर दिये जाने के कारण तथा 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्।" (ब्र० सू० १।१।२५) इत्यादि सूत्रों में ब्रह्म के प्रकाश स्वरूपत्व का ज्ञान हो जाने के कारण पूर्वपक्ष के उपस्थित होने का कोई अवसर ही नहीं है। अतएव इन दो सूत्रों अधिकरणान्तर मानना उचित नहीं है। किञ्च—उनके मत में सूत्र के अक्षरों की विरूपता भी होगी।

टिप्पणीः—शांकर भाष्य में 'अनुकृतेस्तस्य च' इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहा गया है कि—न तत्र सूर्योभाति' (मु० २।२।१०) इत्यादि श्रुति में वर्णित प्राकृत ज्योति नहीं है। क्योंकि (मु० २।२।१०) श्रुति के चतुर्थ चरण में बतलाया है कि उस परं ज्योति के ही प्रकाशित होते रहने से ये सभी सूर्य चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं। तथा उसी चैतन्य के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं। अतएव तस्य अनुकृतेः=अनुभानात्। प्रकाशनात्। अर्थात् परं चैतन्य के प्रकाश के द्वारा प्रकाशित होने के कारण उक्त श्रुति में वर्णित ज्योति प्राकृत ज्योति नहीं हो सकती है। इस अर्थ में श्रुति के अक्षरार्थों में यह विपरीतता है। कि अनुपूर्वक कृधातु से क्तिन् प्रत्यय करके बने हुए अनुकृति शब्द के अर्थ की समता किसी भी प्रकार से अनुपूर्वक भा दीप्तौ

धातु से नहीं हो सकती है। किन्तु भगवान् शंकराचार्य ने इस अर्थ वैपरीत्य पर ध्यान न देकर सूत्रकार बादरायन के हृदयाभिप्राय पर ध्यान दिये बिना ही अपने समीहित अर्थ की सिद्धि के लिए श्रुतिगत् 'अनुभाति' पद की ध्वनि समता मात्र के चलते सूत्र के अनुकृते: पद को मनमानी ढंग से घसीटा है और उसके द्वारा मुण्डकोपनिषत् के प्रकरण परक एक स्वतन्त्र अधिकरण की ही कल्पना की है। किन्तु भगवान् बोधायन की वृत्तिगन्थ के अक्षरशः अनुयायी श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने अनुकृति पद को अनुकरण रूप साम्य परक अर्थ का निर्णय कर चिरन्तन सरस्वती के ज्वारपहार का सफल प्रयास किया है।

इस तरह शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) कृत श्रीभाष्य के दहराधिकरण की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

८८ शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३॥

मूल—कठवल्लीषु श्रूयते *अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वैतत् *अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वैतत् *अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम् इति। तत्र संदि-

ह्यते—किमयमङ्गुष्ठमात्रप्रमितः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मेति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? जीवस्यान्यत्राङ्गुष्टमात्रत्वश्रुतेः ❀प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः, अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः इति । नचान्यत्रोपासनार्थतयाऽपि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं श्रूयते । एवं निश्चिते जीवत्वे इशानत्वं शरीरेन्द्रियभोग्यभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ॥ इति प्राप्ते ब्रूमः—शब्दादेव प्रमितः—अङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मा; कुतः ? ❀ईशानो भूतभव्यस्येति शब्दादेव, न च भूतभव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते ॥२३॥

अनु०—प्रमितः=कठोपनिषत् के [२।४।१२] श्रुति में श्रूयमाण अपने आश्रित वात्सल्यत्व नामक गुण के अतिरेक के कारण उपासकों के शरीर में रहने वाला अंगुष्ठ परिमाणवाला पुरुष परमात्मा ही है । इस अर्थ की अवगति शब्दादेव=अथ त् ईशानो भूतभव्यस्य इस श्रुति के द्वारा ही होती है । क्यो कि परमात्मा को छोड़कर कोई भी [जीव] त्रैकालवर्ती जगत् का नियामक नहीं हो सकता है । सर्वदा सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र प्रशासक होना परमात्मा का ही ऐश्वर्य है । यह सूत्र का अर्थ

हुआ।

कठोपनिषद् में सुना जाता है कि—त्रैकालवर्ती भूत-भव्य) सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र प्रशासक, उपासक के मध्य शरीर [हृदय प्रदेश] में अंगुष्ठ परिमाणक बनकर विद्यमान रहता है। सम्पूर्ण जगत के नियामक होने के कारण तथा अपने आश्रित वात्सल्यातिरेक के कारण देहगत दोषों को भी परमात्मा अपना भोग्य ही मानता है। [क० उ० २।४।१२] वह अंगुष्ठ परिमाणक पुरुष धूम रहित शुष्क इन्धन के समान सदा प्रकाशमान होता रहता है। वही सम्पूर्ण जगत् का प्रशासक है तथा वर्तमान तथा भविष्यत् कालिक सभी वस्तुएँ परमात्मात्मक ही हैं। [क० उ० २।४।१३] एवं अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष सभी जीवों के हृदय में अन्तरात्मा [अन्तर्यामी] रूप से विद्यमान है। उस अन्तरात्मा को ज्ञान कौशल के द्वारा अपने शरीर से पृथक् करके धारक, नियामक शेषी इत्यादि रूप से उसी तरह जानना चाहिये जिस तरह कोई मूञ्ज और उसके भीतर रहने वाली सींक एक दूसरे से पृथक् जानता है। उस अंगुष्ठमात्र पुरुष को प्रकाश स्वरूप तथा अमृत समझना चाहिये। [क० उ० २।६।१७] यहाँ पर यह सन्देह होता है कि यह अंगुष्ठ परिमाणवाला पुरुष जीवात्मा है। अथवा परमात्मा है ? क्यों कि दूसरी श्रुति में भी जीव को अंगुष्ठ परिमाणक सुना जाता है। 'प्राण सहचरी जीव अपने कर्मपाश में आबद्ध होकर नाना योनियों में सञ्चरण करता है। [श्वे० ५।७] तथा जो अपने

बिविध संकल्पो तथा अहंकार से युक्त अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष [जीव] स्वभावतः प्रकाश स्वरूप हैं। (श्वे० ५।८) इस श्वेताश्वतर श्रुति में जीव को अंगुष्ठपरिमाण वाला बतलाया गया है। अतएव कठोपनिषद् की श्रुतियो में आंगुष्ठ परिमाण वाला वर्णित पुरुष जीवात्मा ही है, परमात्मा नहीं। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि श्वेताश्वतर श्रुतियों में उपासना की दृष्टि से परमात्मा का अंगुष्ठ परिमाणक रूप से श्रुति वर्णन करती है।

जैसे—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदामनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(श्वे० ३। १६)

अर्थात्—अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष [परमात्मा] सभी जीवों के हृदय में अन्तरात्मा रूप से विद्यमान है। समाहित होकर भक्ति पूर्वक जो पुरुष उस परमात्मा को अन्तर्यामी रूप से जानकर उसकी उपासना करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद् में भी—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोंऽगुष्ठं च समाश्रितः।
ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वमुक ॥ (तै० ना)

अंगुष्ठ परिमाण वाले हृदय में रहने वाले अंगुष्ठ परिमाण वाले परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के नियामक, स्वामी तथा भोक्ता है। वे हमारे इस प्राणाहुति नामक कर्म से प्रसन्न होएं।

इन सभी श्रुतियों में उस अंगुष्ठ परिमाण वाले पुरुष अन्तरात्मा मोक्षप्रदाता, तथा सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता बतलाया गया है।

तो इस प्रकार की शंका उचित नहीं होगी क्योंकि उपयुक्त तर्कों एवं प्रमाणों के द्वारा अंगुष्ठ परिमाण वाले पुरुष के जीवत्व का निश्चय हो जाने पर शरीर एवं इन्द्रिय रूपी भोग्य तथा भोग के साधनों का नियामक होने के कारण जीव का नियामकत्व सिद्ध हो सकता है। अतएव अंगुष्ठ परि-माण वाला पुरुष जीवात्मा ही है।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—'शब्दादेव प्रमितः।' अर्थात् अंगुष्ठ परिभाषा वाला पुरुष त्रैकालवर्ती जगत् का नियामक है।' इस श्रुति वाक्य से ही उसका परमात्मत्व सिद्ध होता है। क्योंकि कर्म परवश जीवों का त्रैकालवर्ती सम्पूर्ण जगत् का नियामकत्व सम्भव नहीं है।

कथं तर्हि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

८६ हृदयापेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।१।३।२५।

मूल—परमात्मन उपासनार्थमुपासकहृदये वर्तमानत्वादुपासकहृदयस्याङ्गुष्ठप्रमाणत्वात्तदपेक्षयेदमङ्गुष्ठप्रमितत्वमुपपद्यते। जीवस्याप्यङ्गुष्ठप्रमितत्वं हृदयान्तर्वर्तित्वात्तदपेक्षमेव, तस्याराग्रमात्रत्वश्रुतेः। मनुष्याणामेवोपासक

त्वासंभावनया शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वान्म-
नुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्खरतुरगभुजगादी-
नामनङ्गुष्ठप्रमितत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । स्थित ताव-
दुत्तरत्र समापयिष्ते ॥ २४ ॥

अनु०—अब प्रश्न यह उठता है कि तो फिर [क० उ० २ । ४ । १२ । १३] श्रुतियो में परमात्मा को अंगुष्ठ परिमाण क्यो बतलाया गया है। तो इस शका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है ।

हृदयपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् [१ । ३ । २४]

अथात्—परंब्रह्म परमात्मा का अंगुष्ठमात्र परिमाण इस लिए श्रुतियो ने बतलाया है कि वह परमात्मा उपासक के हृदय में अन्तरात्मा रूप से स्थित रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि सबो का हृदय तो अंगुष्ठ मात्र का नहीं होता तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं। कि चूंकि उपासना तो मनुष्य के द्वारा ही सम्भव है । अतएव मनुष्यो के ही हृदय में विद्य-मानता सापेक्ष मानकर उस सीमातीत परमपुरुप का परिमाण अंगुष्ठ परिमाण माना गया है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

उपासना के लिए परमात्मा के उपासक के हृदय में सदावर्तमान रहने के ही कारण; और उपासक के हृदय के अं-गुष्ठ परिमाण वाला होने के कारण उसी को ध्यान में रखकर

अनवच्छिन्न परमात्मा का अंगुष्टमात्र परिमाणत्व सिद्ध होता है । जीव का भी अंगुष्ठ मात्र परिमाणत्व इसलिए सिद्ध होता है कि जीव का निवास हृदय के भीतर है । इस बात को दृष्टि पथ में रखकर उसको श्रुतियों मे आर के अग्र भाग के समान अल्प परिमाण वाला बतलाया गया है । चूं कि मनुष्य ही उपासक हो सकता । अतएव शास्त्र मनुष्यों के अधिकार को बतलाता है । और मनुष्यो के हृदय के उनकी अपनी नाप से अंगुष्ठ परिमाप वाला होने के कारण, खर तुरग (घोड़ा) सर्प आदि जीवो हृदय के अंगुष्ठ परिमाणक नहीं होने पर भी कोई दोष नहीं है । प्रासङ्गिक अन्य अर्थो का निरूपण आगे के अधिकरण में किया जायेगा । इस तरह शिवप्रसाद द्विवेदी श्री धराचार्य कृत प्रमिताधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

९० तदुपर्यपि बादरायणस्संभवात् ।१।३।२५

मूल—परस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठप्रमीतत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम् । तत्प्रसङ्गेनेदानीं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावद्युक्तम ? नास्तिदेवादीनामधिकार इति । कुतः ? सामर्थ्याभावात् । न ह्यशरीराणां देवादीनां विवेक-विमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्य-मस्ति । न देवादीनां सशरीरत्वे प्रमाणमुपलभामहे ।

यद्यपि परिनिष्पन्नेऽपि वस्तुनि व्युत्पत्तिसंभावनया वेदान्तवाक्यानि परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति तथापि देवादीनां विग्रहवत्त्वप्रतिपादनपरं न किंचिदपि वाक्यमुपलभ्यते । मन्त्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्यपरत्वान्न देवादिविग्रहसाधने प्रभवन्ति । कर्मविधयश्च स्वापेक्षितोद्देश्यकारकत्वातिरेकि देवतागतं किमपि न साधयन्ति । अत एव तासामर्थित्वमपि न संभवति । अतस्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीनामनधिकार इति ॥

अनु०--भगवान् वादरायण मानते हैं कि केवल मनुष्य ही नहीं देवताओं में भी ब्रह्मोपासना सम्भव है। क्योंकि संभव है कि पूर्वार्जित ज्ञान का विस्मरण न होने के कारण वे भी ब्रह्मोपासना करें ।

परब्रह्म के अंगुष्ठ प्रमाणकत्व सिद्धि के लिए कहा गया है कि ब्रह्मोपासना शास्त्र में केवल मनुष्य का ही अधिकार है। उसी के प्रसङ्ग में इस सूत्र में विचार किया जा रहा है कि ब्रह्मोपासना रूप ब्रह्म की प्राप्ति में देवता आदि का अधिकार है अथवा नहीं ? इसमें कौन सा पक्ष मानना ठीक है ? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि देवता आदि का अधिकार

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में नहीं है । क्योंकि उनका ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सामर्थ्य ही नहीं है । शरीर रहित देवता आदि का बिवेक, विमोक आदि (क्रिया, कल्याण, अनवसाद, एवं अनुद्धर्ष) साधन सप्तकानुगृहीत ब्रह्मोपासना के उपसंहार (अनुष्ठान) में सामर्थ्य नहीं है । किञ्च-देवताओं के शरीर होने में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है । यद्यपि सिद्ध वस्तु ब्रह्म के विषय में भी पुरुषार्थरूप से व्युत्पत्ति (ज्ञान) के संभव होने से वेदान्त वाक्यों का परंब्रह्म में प्रामाण्य है । (वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म के परमपुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन में उसी प्रकार से प्रामण्य सिद्ध होता है जिस तरह कर्मकाण्ड भाग के वाक्यों का प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन के प्रतिपादन में पर्यवसान होने के कारण उनका विधिनिषेधों में प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है । क्यों कि शब्द की प्रमाणिकता इतने ही मात्र से मानी जाती है कि उसका किसी प्रयोजन में पर्यवसनान होता है ।) फिर भी देवता आदि के शरीरयुक्तत्व का प्रतिपादक कोई वाक्य नहीं मिलता है । मन्त्रों एवं अर्थवाद के रूप में आये हुए वाक्य तो (अनुष्टेय अर्थ के प्रकाशन तथा स्तुति परकत्व रूप) अन्य अर्थ के प्रकाशक होने के कारण कर्मविधि के उपकारक हैं, अतएव वे देवता आदि के शरीर को सिद्ध कर सकने में समर्थ नहीं हैं । यदि इस पर कोई यह कहे कि देवता आदि के विग्रह की सिद्धि भले ही मन्त्रार्थवाद के द्वारा न हो सके किन्तु कर्मविधि के द्वारा तो देवताओं के शरीर की सिद्धि तो हो ही सकती है ।

क्योंकि कर्मों का तो निरूपण देवता एवं द्रव्य के ही द्वारा संभव है। क्षणध्वंसी कर्मों के द्वारा कालान्तर में प्राप्त होने वाले फल की सिद्धि के लिए देवताओं के ऐश्वर्य को मानना अपेक्षित होगा । तो इसका उत्तर है कि) कर्मों के विधान करने वाले वाक्य तो अपने लिए अपेक्षित उद्देश्यकारकत्व को छोड़कर देवता विषयक किसी भी अन्य अर्थ को नहीं सिद्ध कर पाते हैं । (अर्थात् यद्यपि देवताओं से युक्त याग होम आदि कर्मों में देवता के शरीरादि ऐश्वर्य को स्वीकार करने से भी उन कर्मों के फलप्रदत्व की सिद्धि सम्भव है, फिर दान, तपस्या आदि कर्मों में देवता की अपेक्षा का अभाव होने से अपूर्व (अदृष्ट) नामक वस्तु की कल्पना आवश्यक होगी । इसी तरह याग होम आदि के भी दान, तपस्या आदि के समान ही कर्म होने का कारण उनके द्वारा भी अपूर्व की उत्पत्ति की कल्पना करनी चाहिये । किञ्च यह भी कोई नियम नहीं कि जिस कल्प में जो कर्म किया जाय उसी कल्प में उन सभी कर्मों को भोग लिया जाय । और देवताओं की तो कल्प के आदि में सृष्टि और कल्प के अन्त मे प्रलय स्वीकार किया जाता है । अतएव कल्प के अन्त में प्रलय हो जाने के कारण जिन कर्मों का फल नहीं मिल सका उन कर्मों के फलप्रदाता वे देवता नहीं हो सकेंगे जिनकी फलप्रदाता रूप से कल्पना की जायेगी । इससे तो अच्छा यह होगा कि किसी भी कर्म के फलप्रदाता रूप से देवताओं की कल्पना नहीं की जाय । इसलिए यही मानना ठीक है

कि तत्-तत् कर्मों के द्वारा तत्-तत् देव शरीरक परमात्मा के आराधित होने के कारण नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा ही सभी कर्मों के फल प्रदाता हैं। अतएव ऐसा मानने में प्रतिमा प्रतिमेय न्याय प्रवृत्त होता है। जिस तरह प्रतिमा को उद्दिष्ट करके किये गये उपचारों से उसके अन्तर्यामी रूप से विद्यमान देवता की प्रसन्नता होती है, उसी तरह देवतोद्देश्यक द्रव्यत्याग रूपी यागों के द्वारा देवशरीरक परमात्मा को प्रसन्नता होती है। अतएव कर्मविधि के द्वारा प्रतिमा के ही समान देवतो-द्देश्य मात्र ही होता है उनका ऐश्वर्य रूप विग्रहवत्व नहीं। चूंकि देवतैश्वर्य को कल्पना उचित नहीं है अतएव देवताओं के अर्थि-त्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि आर्थित्व दुख जिहासा रूप होता है और दुख सुख का संबन्ध शरीर से ही होता है। शरीर के नहीं रहने पर उनकी जिहासा रूप अर्थित्व कैसे संभव है? इस अर्थ को बतलाते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि—) अतएव (देह रहित होने के कारण) देव-ताओं का आर्थित्व भी संभव नहीं है। इस तरह साधन सप्तक के अनुष्ठान का सामर्थ्य तथा उनके अर्थित्व का अभाव होने के कारण देवताओं का ब्रह्मविद्या की प्राप्ति रूप ब्रह्मोपासना में अधिकार नहीं है।

मूल—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–तदुपर्यपि बादरायणस्संभषात्।

तदुपर्यपि--तत्--ब्रह्मोपासनम्, उपरिदेवादिष्वपि; संभवतीति

भगवान्बादरायणो मन्यते, तेषामर्थित्वसामर्थ्ययोस्संभवात् । अर्थित्वं तावदाध्यात्मिककादिदुर्विषहदुःखाभितापात्परस्मिन्ब्रह्मणि च निरस्तनिखिलदोषगन्धेऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणे निरतिशयभोग्यत्वादिज्ञानाच्च संभवति । सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया संभवति ।

अनु०—उपर्युक्त प्रमाद का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—'तदुपर्यपि बादरायणः संभवात ।१।३।२५।। अर्थात्=तत्=वह ब्रह्मोपासना, उपर्यपि=(मनुष्यों से उच्चकोटि की योनि वाले) देवादि में भी संभव है; यह भगवान् बादरायण मानते हैं । क्योकि देवताओं का भी अर्थित्व एवं ब्रह्मविद्योपासना में सामर्थ्य है । देवताओं का ब्रह्मोपासना के विषय में अर्थित्व दो प्रकार से संभव है । [१] आध्यात्मिक आदि असह्य दुखों से संतप्त होने के कारण [२] सभी दोषों के गन्ध से भी रहित (अखिल हेय प्रत्यनीक) तथा सीमानीत सर्वोत्कृष्ट असंख्येय कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय परब्रह्म में सर्वोत्कृष्ट भोग्यत्व बुद्धि के कारण । किञ्च देवताओं में साधन सप्तक के अनुष्ठान का सामर्थ्य भी मनुष्यों के देह इन्द्रिय आदि की अपेक्षा अत्यधिक क्षिप्र देह इन्द्रिय आदि से युक्त होने के कारण संभव है ।

मूल—देहेन्द्रियादिमत्त्वं च ब्रह्मादीनां सकलोपनिषत्सु सृष्टि-

प्रकरणेषूपासनप्रकरणेषु च श्रूयते। तथाहि *सदेव सोम्येदमग्र आसीत...तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजतेत्यारभ्य सर्वमचेतनं तेजोबन्नप्रमुखावस्थाविशेषवद्व्याकृत्य *अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति सङ्कल्प्य ब्रह्मादिस्थावरान्तं चतुर्विधं भूतजातं तत्तत्कर्मोचितशरीरं तदुचितनामभाक्चायमकरोदित्युक्तम्। एवं सर्वत्र सृष्टिवाक्येषु देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना चतुर्विधा सृष्टिराम्नायते। देवादिभेदश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोकप्रभृति चतुर्दशलोकस्थफलभोगयोग्यदेहेन्द्रियादियोगायत्तः; आत्मनां स्वतो देवादित्वाभावात्। तथा *तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुः...इन्द्रो हवै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समीत्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः *तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः तौ ह प्रजापतिरुवाच *इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरेन्द्रियवत्त्वं देवादीनां प्रतीयते। कर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थवादेष्वपि *वज्रहस्तः पुन्दरः *तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत् इत्यादिभिः प्रतीयमानं विग्रहादिमत्त्वं प्रमाणान्तराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव।

अनु०—और ब्रह्मा आदि देवताओं का देह, इन्द्रिय

आदि से युक्त होना सभी उपनिषदों के सृष्टि प्रकरणों में सुना जाता है। (अर्थात् तत्वोपदेश के लिए वेद के मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनो प्रधान है। ये दोनों तत्त्वपरक एवं उपासना परक हैं। और उनमें सर्वत्र देवताओं के विग्रह आदि का प्रतिपादन किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि तत्वों के प्रतिपादक वाक्य कौन है ? उनके द्वारा किस तरह देवताओं का शरीरयुक्तत्व प्रतिपादन किया गया है।) तो वे श्रुतियाँ निम्न हैं—'सदेव सोम्येदमग्रासीत।' अर्थात् सोमरसपानार्ह शिष्य श्वेत केतो। सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सद्रूप ही था। उस सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म परमात्मा ने सत्य संकल्प रूप इच्छा किया मै सभीष्ट सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि में जाऊँ।' इस छान्दोग्य श्रुति से प्रारम्भ करके—सम्पूर्ण अचेतन पदार्थ को तेज, जल तथा पृथिवी रूपी प्रमुख अवस्था विशेष से युक्त बिभाजित करके 'इस जीव के साथ स्वयं संपूर्ण जड़ पदार्थों में प्रवेश करके इनके नाम एवं रूप का विभाजन करूँ।' इस तरह से सत्य संकल्प करके ब्रह्मा से लेकर स्थावर तृण पर्यन्त (देव, मनुष्य, तिर्यक्, एवं स्थावर) इन चार प्रकार के भूत समुदाय को, विभिन्न कर्मों को करने के लिए उचित शरीर से युक्त तथा उसके लिए उचित नामों का भाजन भी परंब्रह्म ने बना दिया। इस अर्थ को कहा गया है। इसी तरह सभी उपनिषदों के सृष्टि वाक्यों मे—'देव, तिर्यक मनुष्य एवं स्थावर

रूप से चार प्रकार की सृष्टि बतलायी गयी है। जीवो का जो देवादि भेद होता है, वह विभिन्न कर्मों के अनुसार ब्रह्मलोक से लेकर चौदह लोको में प्राप्त होनेवाले फलो के भोगने के योग्य देह, इन्द्रिय आदि के संबन्ध के अधीन होता है। क्योंकि जीव तो स्वभावत' देवता आदि है नहीं।

इसी तरह छान्दोग्योपनिषद् के प्रत्यगात्मविद्या के उपासना प्रकरण में भी—निश्चय ही उस प्रजापति की वाणी के देवताओ और असुरो दोनो ने सुना और उन सबों ने कहा—निश्चय है कि देवताओं में इन्द्र ने गृह का त्याग कर दिया तथा असुरो में विरोचन ने गृह का त्याग किया। निश्चय ही दोनों आपस मे सलाह किये हुए ही ब्रह्मचारी के नियम से हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के सन्निकट में गये। उन दोनो ने बत्तिस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य, का पालन करते हुए वहां निवास किया। उन दोनो को प्रजापति ने कहा—'इत्यादि वाक्यो के द्वारा देवता आदि का देह, इन्द्रियसहितत्व स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

इसी तरह कर्मविधि के उपकारक मन्त्रार्थवादों में भी—'वज्रहस्त: पुरन्दर:' अर्थात् इन्द्र अपने हाथो में वज्र धारण करता है। 'तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्' 'इस लिए इन्द्र ने वज्र को प्रदान किया।' इत्यादि सूत्रों से प्रतीयमान विग्रहादि सहितत्व दूसरे प्रमाणों के भी अनुकूल ही हैं अतएव वह भी प्रमेय ही है।

मूल—नचानुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्था-

न्तराविवक्षा शक्यते वक्तुम्; स्तुत्यद्युपयोगित्वातेन विना स्तुत्याद्यनुपपतेश्च । गुणकथनेन हि स्तुतित्वम् । गुणाना-मसद्भावे स्तुतित्वमेव हीयेत । नचासता गुणेन कथि-तेन प्ररोचना जायते । अतः कर्म प्ररोचयन्तो गुणसद्भावं बोधयन्त्येवार्थवादाः । मन्त्राश्च कर्मसु वि-नियुक्तास्तत्रतत्र किञ्चित्करत्वायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयन्तो देवतादिगतविग्रहादिगुणविशेषमभिदधत एव तत्र कि-ञ्चित्कुर्वन्ति, अन्यथेन्द्रादिस्मृत्यनुपपत्तेः । नच निर्वि-शेषा देवता धियमधिरोहति । तत्र प्रमाणान्तराप्रा-प्तान्गुणान् स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयन्ति गुणविशिष्टं वा प्रकाशयन्ति, प्राप्तांश्चानूद्य तैः प्ररो-चनप्रकाशने कुर्वन्ति, विरुद्धत्वे तु तद्वाचिभिश्शब्दैर-विरुद्धान्गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति । कर्मविधेश्च देवताया ऐश्वर्यमपेक्षितमेव । कामिनः कर्तव्यतया कर्म विधीय-मान स्वयं क्षणप्रध्वंसि कालान्तरभाविनः फलस्य स्वर्गादेस्साधकमपेक्षते । मन्त्रार्थवादयोश्च ❀वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैन भूतिं गमयति ❀यदनेन हविषाऽऽशास्ते तद-श्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवा राधन्ताम् इत्यादिषु देवतायाः कर्मणाऽऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीय-

मानमपेक्षितत्वेन वाक्यार्थे समन्वीयते । देवपूजाभिधा यिनो यजिधातोश्च यागाख्यं कर्म स्वाराध्यदेवताप्रधानं प्रतीयते । एवं कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमवगतमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्ति-समयानवगतं कर्मविधिष्वभिधेयतया कल्प्यतया वाऽऽश्र-यितव्यम् । तथा सङ्कीर्णब्राह्मणमन्त्रार्थवादमूलेषु धर्म-शास्त्रेतिहासपुराणेषु ब्रह्मादीनां देवासुरप्रभृतीनां च देहेन्द्रियादयस्तगभावभेदाः स्थानानि भोगाः कृत्यानि चेत्येवमादयस्सुव्यक्ताः प्रतिपाद्यन्ते । अतो विग्रहादिम-त्त्वाद् देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव ॥ २५ ॥

अनु०—यहा पर यह नहीं कहा जा सकता है कि मन्त्र एवं अर्थवाद वाक्य अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशक तथा स्तुतिपरक हुआ करते है । अतएव उपर्युक्त वाक्यो से प्रतीयमान अर्थों के द्वारा अर्थान्तर की विवक्षा प्रतीत होती है । क्योंकि उन देवताओ के विग्रहादिमत्त्व का प्रतिपादन भी उन देवताओ की स्तुति आदि के लिए उपयोगी है । अतएव उन देवताओं के विग्रहा-दिमत्त्व के बिना उनके स्तुति आदि की उपपत्ति भी नहीं बन सकती है । क्योकि किसी के गुणो का कथन (वर्णन) ही उसकी स्तुति है । गुणो के वर्णन के अभाव मे कोई स्तुति हो ही नहीं

सकती है । क्योंकि प्ररोचना का ही नाम स्तुति है । अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यों का शेषभूत (उपकारक) होता है । विधि के लिए अपेक्षित प्ररोचना को यदि वह नहीं उत्पन्न कर सका तो फिर वह विधि का उपकारक ही नहीं हो सकता है । अब प्रश्न यह उठता है कि गुणों का कथन ही यदि स्तुति है तो फिर गुणों के कथन का अभाव स्तुतित्व का अप्रयोजक होगा गुणों का असद्भाव नहीं । तो उसका उत्तर देते हुए श्री भाष्य-कार का कहना है कि— अविद्यमान गुणों के कथन को प्ररोचना नहीं कहते हैं—(अपितु विद्यमान गुणों का ही कथन प्ररोचना कहलाती है ।) अतएव कर्मों की प्ररोचना करने वाले, तथा उन कर्मों के गुणों के सद्भाव को ही बतलाने वाले वाक्य हैं। और किसी कर्म में विनियुक्त होकर मन्त्र विभिन्न देवताओं के विषय में कुछ करने के लिए अनुष्ठेय अर्थ को प्रकाशित करते हुए देवता आदि को शरीर आदि गुण विशिष्ट रूप से बतलाते हुए ही उन कर्मों के विषय में कुछ करते है । सभी विशेषों से रहित कोई देव बुद्धि का विषय नहीं बन पाता है । उन कर्मों के विषय में प्रमाणान्तरों के अविषय भूत गुणों को स्वयं ही बतलाकर मन्त्र उन गुणों के द्वारा कर्मों की प्ररोचना करते हैं । अर्थात उन कर्मों के गुणविशेष को बतलाते हैं ।) अथवा गुणों से विशिष्ट रूप से वे कर्मों का प्रकाशन करते है । तथा प्रमाणान्तरों से ज्ञात कर्मों का अनुवाद करके उनके गुणों का वर्णन तथा उन कर्मों के प्रकाशन करने का काम करते हैं ।

कर्मों पर विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर उन गुणों के वाचक शब्दों के द्वारा अनुकूल गुणों को लक्षित (प्रकाशित) करके उन कर्मों की प्ररोचना तथा प्रकाशन का कार्य करते हैं।

और कर्मविधि के लिए देवता का (विग्रहादि युक्तत्व रूप) देवता का ऐश्वर्य अपेक्षित होता है। अर्थी व्यक्तियों के कर्तव्य रूप से जिन कर्मों के विधान किया जाता है वे कर्म तो क्षण भंगुर हैं। और उनके फलस्वरूप स्वर्ग आदि की प्राप्ति तो कालान्तर में होती है, अतएव आवश्यकता होती है। उस साधक की, जो कालान्तर में उन कर्मों के अनुष्ठाता व्यक्ति को तत्-तत् स्वर्गादि फलों को प्रदान कर सके। और—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता।' वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैनं भूतिं गमयति।" (यजु० काण्ड २ प्रश्न १ अनु० १ पं० १) अर्थात् निश्चय ही वायुक्षिप्रतम (सर्वाधिक शीघ्रगामी) देवता है। जो हविष्यादि प्रदानादि के द्वारा वायु की उपासना करता है। उसी से प्रसन्न होकर वह उस यजमान को ऐश्वर्य प्रदान करता है। 'यदनेन हविषाऽऽशास्ते, तदश्यात्। तदृध्यात्। तदस्मै देवा रासन्ताम्।' (तै० अ० २) अर्थात् यजमान इस हविष्य प्रदानादि के द्वारा जिस फल की अपेक्षा करता है, वह उस फल को प्राप्त करे। उसके वे फल समृद्ध हों। और इस हविष्य प्रदानादि के द्वारा जिन देवताओं की आराधना की जाती है। वे देवता उसके उस फल की प्राप्ति के साधकतम हैं। इन सभी वाक्यों में कर्मों के द्वारा आराधित की जाने वाली देवता के

फल प्रदत्व को तथा उसके अनुकूल प्रतीत होने वाला ऐश्वर्य के अपेक्षित होने के कारण मन्त्रों एवं अर्थवादों का वाक्यार्थ में समन्वय हो पाता है। देव पूजा के वाचक यज् धातु के वाच्य भूत अर्थ याग नामक कर्म उस याग के द्वारा आराध्य देवता प्रधान द्वारा प्रतीत होता है। (अर्थात् देवता का ऐश्वर्य जहाँ श्रुति बतलाती है, वहीं पर तत्कर्मजन्य उस देवता की प्रसन्नता को भी श्रुति कण्ठतः कहती है। उसकी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा कल्पना नहीं करनी पड़ती है। अब प्रश्न यह उठता है कि दान, तप आदि जो कर्म देवतानुद्देश्यक होते है। उनके द्वारा देवताओं की प्रसन्नता तो होती नहीं है। अतएव उन क्षणभंगुर कर्मों के द्वारा किस प्रकार फलों की प्राप्ति मानी जा सकती है ? यदि कहें कि ऐसे कर्मों के आचरण के द्वारा अदृष्टोत्पत्ति की कल्पना करनी चाहिये। तब तो सभी कर्मों के द्वारा अदृष्टोत्पत्ति की कल्पना तथा उस अदृष्ट के ही फल प्रदत्व की कल्पना कर लेनी चाहिये। कहीं पर देवता की फलप्रद रूप से कल्पना तथा कहीं पर अदृष्ट को फलप्रद रूप से कल्पना करना उचित नहीं है। तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर कर्मों के द्वारा देवता की प्रसन्नता सुनी जाती है वहाँ भी देवता की प्रसन्नता को फल-प्राप्ति का द्वार समझना चाहिये। वह देवता की प्रीति भी यागजन्य अपूर्व से ही जन्य है। और जो कर्म देवतोद्देश्यक नहीं होता है उसके द्वारा तो साक्षात् अपूर्व की उत्पत्ति होती है, यह मानना चाहिये। वास्तविकता तो यह है कि 'द्रव्य-

यज्ञास्तपोयज्ञ : योगयज्ञास्तथैव च' इत्यादि गीतोक्ति के द्वारा सभी न. आदि कर्मों के यज्ञ रूप होने से वे सभी कर्म यज् धातु वाच्य देवाराधन रूप ही है। अतएव कोई भी कर्म देवानु-द्देश्यक होता ही नही। यह बात दूसरी है कि जहाँ पर किसी देवता विशेष की आराधना सुनी जाती है, वहाँ तद् देवता शरीरक परमात्मा आराध्य होते हैं। और जहाँ पर कोई देव विशेष आराध्य नहीं सुना जाता है वहाँ पर साक्षात् परमात्मा ही तत्कर्माराध्य होते है।) इस तरह सभी मन्त्रों एवं अर्थवाद वाक्यो की पर्यालोचना के द्वारा ही विधि के लिए अपेक्षित सभी वस्तुओं का पता चल जाता है। अतएव अपूर्व आदि जिनकी सूचना मन्त्रार्थ ज्ञान काल में नहीं मिलती उनको कर्मविधियों में अभिधेय रूप से अथवा कल्प्य रूप से नही स्वीकार करना चाहिये।

इस तरह मिश्रित रूप से ब्राह्मण ग्रन्थ मात्र एवं अर्थ-वाद ही जिनके मूल है, उन धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणो में ब्रह्मा आदि देव, असुर प्रभृति के देह इन्द्रिय आदि का उनके स्वभाव की भिन्नता का; उनके स्थानो का, भोगों का, तथा उनके कृत्यों आदि का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। अतएव शरीर आदि से युक्त होने के कारण देवता आदि की भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है ही ॥२५॥

टिप्पणी—मन्त्राश्च—इत्यादि वाक्य के द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि मन्त्र ब्रह्मा आदि देवताओं के

शरीर सहितत्व का प्रतिपादन करते हैं । क्योंकि द्रव्य और देवता ही कर्मों के निरूपक होते है । क्योंकि इस कर्म के द्वारा अमुक देवता आराध्य है, इस तरह से देवता विशिष्ट रूप से ही कर्मों का ज्ञान होता है । क्योंकि—'यस्यै देवतायै हयिगृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्' अर्थात् जिस देवता को उदिष्ट करके हविष्य का ग्रहण किया जाय उस देवता का वषट्कारो-च्चारण करते हुए ध्यान करना चाहिये ।' इस श्रुति में देवता के ध्यान का विधान किया गया है । इसलिए देवता के भी स्वरूप की कल्पना करनी ही होगी क्योंकि सभी विशेषों से रहित वस्तु का ध्यान असंभव है । किञ्च—आत्मा का स्वरूप इन्द्रत्व आदि तो है नहीं। अतएव इन्द्रत्वादि के लिए उनके शरीर आदि की कल्पना अनिवार्य है । यदि कोई यह कहे कि प्रतीति के लिए आलम्बन मात्र अपेक्षित है विषय की सत्ता अपेक्षित नहीं है । तो यह कहना उचित इसलिए नहीं होगा कि किसी दूसरी वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान फलवान नही होता है । सीपी में रजत का ज्ञान विफल है । उस रजत से आभूषण नहीं बनाये जा सकते हैं । अतएव अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशनत्व की सिद्धि के लिए मन्त्रों को विग्रह आदि का प्रतिपादक मानना ही होगा । यदि यह कहा जाय कि वस्तु के नहीं रहने पर भी उसकी प्ररोचना देखी जाती है । तो जिस तरह बालातुरादि को फुस-लाने के लिए कहे गये उपच्छन्दन वाक्य इष्टार्थ के सम्पादक नहीं होते हैं उसी तरह मन्त्र भी इष्टार्थ के सम्पादक नहीं सिद्ध

हो पायेंगे । यदि कहा जाय कि अपौरुषेय होने के कारण निर्दोष विधिवाक्य निरूपक विषय का ठीक-ठीक प्रतिपादन करते हैं तो फिर मन्त्रों एवं अर्थवादों के अपौरुषेय होने के कारण तथा निरूपक विषयक होने के कारण, तथा वस्तुओं के स्वरूप का ठीक-ठीक प्रतिपादक होने के कारण, उनका अपने प्रतिपाद्य अर्थ में प्रामाण्य स्वीकार करना होगा ।

उपर्युक्त प्रतिपादन के आधार पर निम्न प्रकार के अनुमानों की सिद्धि होती है । क—विवादास्पद इन्द्रादिपद अपने स्वरूप के अतिरिक्त अर्थ भूत देवताओं की भी प्रतीति के कारण हैं । क्योंकि वे परिभाषिक नहीं है फिर भी बोधक हैं, विविपद के समान ख—किञ्च विवादास्पद चतुर्थी विभक्ति प्रकृत्यर्थ के अतिरिक्त भी अपने अर्थ की बोधिका हैं; क्योंकि वह 'दहना' आदि अपारिभाषिक शब्दो में पायी जाने वाली विभक्ति के समान विभक्ति है । ग—विवादास्पद सम्प्रदान कारक विषयिणी बुद्धि शब्दातिरिक्तार्थ विषयिणी है; क्योंकि वह कारक विषयिणी बुद्धि है । करण कारक विषयिणी बुद्धि के समान । घ—विवादास्पद मन्त्र एवं अर्थवाद वाक्य प्रतीयमान अर्थ में प्रमाण हैं, क्योंकि वे उन (प्रतीयमान) अर्थों के साधकों के बाधक प्रमाणों के अविषय भूत अर्थों के प्रतिपादक है । विधिवाक्य के समान ।

देवपूजा भवायिनो भजिधानो—कहकर भगवान रामानुजाचार्य ने इस अर्थ की ओर संकेत किया है कि-'यत् देवता

संगति करण दानेषु' इत्यादि धातुपाठ भ्रान्ति मूलक है।' यह कथन उचित नहीं होगा क्योंकि मन्त्र अर्थवाद वाक्य अपने अर्थ में प्रमाणभूत होते हैं तथा विधि के लिए अपेक्षित अर्थ के आपादक होते हैं। इन्हीं दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर पढ़ा गया 'यज् देवपूजा संगति करण दानेषु' यह धातु पाठ भ्रान्त मूलक नहीं माना जाता है। इस तरह विवादास्पद विधि-प्रत्यय चेतन (जीवात्मा) की प्रसन्नता के अतिरिक्त फल के साधन की कल्पना को आकाक्षा नहीं रखता है, और न तो वह चेतन की प्रसन्नता के अतिरिक्त फल के साधन के वाचक पद की भी कल्पना के प्रति निराकांक्ष है। क्योंकि वह कृति साध्य चेतन को प्रसन्नता के बोधक वाक्य का प्रत्यय है। राजा की सेवा करे' इस वाक्य गत विधि प्रत्यय के समान।

तथा संकीर्ण ब्राह्मण मन्त्रार्थ वादमूलेषु इत्यादि वाक्य के द्वारा भगवान् रामानुजाचार्य ने बतलाया है कि वेद की शाखायें अनेक हैं। उन सबों का अध्ययन सामान्य लोगों के लिए संभव नहीं है। अतएव हम कुछ ही शाखाओं का अध्ययन कर पाते हैं। उन अधीत तथा अनधीत वेदो के शाखाओ में मत्र एवं अर्थवाद रूप से आये हुए तथा अन्य अर्थों के प्रतिपादन करने वाले प्रकरणो में प्रसंगवशात् जिनका अनुप्रवेश हो गया है, उन सभी अर्थो का संग्रह करके हमारे महर्षियो ने धर्मशास्त्रों इतिहासों में तथा महापुराणो मे प्रकाशित किया है। इतिहासादि को आपने संकीर्ण ब्राह्मण मन्त्रार्थ मूलक बतलाकर

सूचित किया कि वे नित्यानुमेय श्रुति मूलक तथा नष्ट शाखा मूलक नहीं हैं ।

१६ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्

॥ १ । २ । २६ ॥

मूल—देवादीनां विग्रहादिमत्त्वाभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवत्त्वे ❀अग्निमग्न आवह ❀इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छेत्यादिना आहूतस्य तस्य सन्निधानानुपपत्तेः । दर्शयति चाग्न्यादीनां तत्रतत्रागमनं ❀कस्य वा ह देवा यज्ञमागच्छन्ति कस्य वा न बहूनां यजमानानां यो वै देवताः पूर्वः परिगृह्णाति स एनाश्श्वोभूते यजते इति । अतो विग्रहादिमत्त्वे कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेत्, तन्न; अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्-दृश्यते हि सौभरिप्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिः ॥२६॥

अनु०—यदि कहा जाय कि—इन्द्र आदि देवताओं को शरीरयुक्त माना जाय तो समकाल में वे अनेक स्थानों पर उपस्थित नहीं हो सकते हैं । क्योंकि एक शरीरधारी देवता समकाल में ही अनेकत्र नहीं उपस्थित रहता है । इस तरह

समकाल में अनेक स्थानों में उन देवताओं की उपस्थिति का अभाव माने जाने पर कर्मों में विरोध उपस्थित होगा । तो ऐसी बात नहीं है । देखा जाता है कि शक्तिमान सौभरि आदि एक काल में ही अनेक शरीर धारण करके अनेक स्थानों में समान रूप से ही समकाल में उपस्थित रहे । अतएव देवताओं को शरीर आदि ऐश्वर्य सम्पन्न मानने में कोई विरोध नहीं है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

देवता आदि को शरीर आदि से युक्त मानने पर कर्मों में विरोध नहीं होगा । शरीर युक्त मानने पर बहुत यागों में एक ही इन्द्र का—'अग्निमग्न आवह' (तै० आ० ३।५) हे अग्ने तुम इस यज्ञ में इन्द्र को लाओ' तथा—'इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ' (तै० आ० १।२) अर्थात् हे इन्द्र तुम मेरे यज्ञ में आओ हे हरि शब्द वाच्य इन्द्र तुम निश्चय ही मेरे यज्ञ में आओ' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा आवाहन किये जाने पर शरीर धारी इन्द्र के आने की उपपत्ति नही बन सकती है । श्रुतियाँ अग्नि आदि का तत्-तत् यज्ञों में आगमन की सिद्धि करती हैं बहुत से यजमानों के रहने पर किस यजमान के यज्ञ में देवता आते हैं और किसके नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है कि जो सर्व प्रथम देवता का वरण करता है वही यजमान देवताओं की विनीत होकर परिचर्या करता है ।' (तै० का० १।६) अतएव देवताओं को शरीरादि युक्त मानने पर कर्मों के विषय में विरोध का प्रसङ्ग होगा ? तो ऐसा मानना उचित नहीं होगा ।

अनेक प्रति पत्ते दर्शनात्=अर्थात् शक्तिमान सौभरि—आदि योगियों द्वारा समकाल में ही अनेक शरीर धारण का ज्ञान होता है। (यदि शक्ति सम्पन्न योगिजन अनेक शरीर धारण कर सकते हैं तो फिर अजानज देवताओं के विषय में क्या कहना है ? विष्णु पुराण के चौथे अंश के २ रे अध्याय में आख्यायिका वर्णित है कि महर्षि सौभरि ने अनेक शरीर धारण कर अनेक राजकन्याओं के साथ शादी करके उन सबों के साथ समान रूप से गार्हस्थ्य का पालन किया।)

६२ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्

॥ १ । ३ । २७ ॥

मूल—विरोध इति वर्तते। मा भूत्कर्मणि विरोधोऽनेकशरीरप्रतिपत्तेः। शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते; अनित्यार्थसंयोगात्। विग्रहवत्त्वे हि सावयवत्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम्। ततो देवदत्तादिशब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग्विनाशादूर्ध्वं चेन्द्रादिशब्दानां वैदिकानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा वेदस्य स्यादितिचेत्, तन्न; अतः प्रभवात्—अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुनःपुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात्। एतदुक्तं भवति—नहि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा वैदिका व्यक्तिविशेषमात्रे सङ्केत-

पूर्वकाः प्रवृत्ताः, अपि तु स्वभावत एव गवादिशब्द-वदाकृतिविशेषवाचित्वेन । ततश्च कस्यामिन्द्रव्यक्तौ विनष्टायामत एव वैदिकादिन्द्रशब्दान्मनसि विपरिव-र्तमानादवगततद्वाच्यभूतेन्द्राद्यर्थाकारो धाता तदाकार-मेवापरमिन्द्रं सृजति, यथा कुलालो घटशब्दान्मनसि विपरिवर्तमानात्तदाकारमेव घटमिति । कथमिदवग-म्यते ? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । श्रुतिस्तावत् *वेदेन रूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः इति; तथा *स भूरिति व्याहरत् स भुमिमसृजत स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजतेत्यादि । वाचक-शब्दपूर्वकं तत्तदर्थसंस्थानं स्मरन् तत्तत्संस्थानविशिष्टं तंतमर्थं सृष्टवानित्यर्थः । स्मृतिरपि *अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रसूतयः ॥ इति; *सर्वेषां तु स नामानि कर्माणिच पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्सं-स्थाश्च निर्ममे ॥ इति । संस्थाः-संस्थानानि, रूपा-णीति यावत् । तथा *नाम रूपंच भूतानां कृत्या-नांच प्रपञ्चनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनाँ चकार

सः ॥ इति । अतो देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि वैदिक-शब्दानामानर्थक्यं, वेदस्यादिमत्त्वंच न प्रसज्यते ॥२७॥

अनु०--अर्थात् यदि इन्द्रादि देवताओं को शरीरादि से युक्त मानने पर वैदिक शब्दों में विरोध होगा । क्योंकि शरीर के सावयवत्व प्रयुक्त कार्य होने पर इन्द्रादि की उत्पत्ति एवं विनाश का भी प्रसंग होगा । इस तरह इन्द्रादि की मृत्यु हो जाने पर उनके आवाहन आदि कैसे सम्भव होंगे? किञ्च वेदों में इन्द्रादि की उत्पत्ति एवं विनाश का वर्णन नहीं देखा जाता है। तो यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि वैदिक मन्त्रों के ही द्वारा इन्द्रादि की सृष्टि प्रतिपादित होती है । ये इन्द्रादि शब्द किसी व्यक्ति विशेष के वाचक न होकर गो आदि शब्दों के समान इन्द्रादि जाति के वाचक है । अतएव इन्द्रादि व्यक्तिकी मृत्यु हो जाने पर भी ब्रह्मा वैदिकशब्दों के ही द्वारा पूर्व कर्मानुसारी इन्द्र की सृष्टि कर देते हैं इस अर्थ का प्रतिपादन श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी करती हैं । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

इन्द्रादि को शरीर युक्त मानने पर विरोध तो होगाही । कर्मों में विरोध भले ही न हो क्योंकि उनके अनेक शरीरधारित्व का ज्ञान होता है । किन्तु वैदिक इन्द्रादि शब्दों में विरोध होगा ही । क्योंकि नित्य वैदिक शब्दों का अनित्य इन्द्रादि देवता रूप अर्थों से संयोग मानना होगा । क्योंकि सशरीर होने के कारण शरीरों के सावयव होने से इन्द्रादि अर्थों को अनिवार्य रूप से अनित्य मानना होगा । फिर देवदत्त आदि

शब्द के समान इन्द्र आदि (देवता रूपी) अर्थों का जन्म से पहले विनाश और बाद में भी विनाश होने का कारण इन्द्र आदि वैदिक शब्दों को अर्थ शून्य मानना होगा। अथवा वेद अनित्य हो जायंगे। यदि यह शंका की जाय तो, यह शंका उचित नहीं होगी। क्योंकि—अतः प्रभवात्=इस इन्द्रादि शब्द से ही बार-बार इन्द्रादि की उत्पत्ति होती है। (अब प्रश्न यह उठता है शब्द अर्थ का जनक कैसे हो सकता है। शब्द से अर्थ की उत्पत्ति स्वीकार करने पर यह तो स्वीकार ही करना होगा कि कुछ समय तक शब्द अर्थ शून्य मानना ही होगा। तो इस शंका का समाधान करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि— देवदत्त आदि शब्दों के समान इन्द्र आदि वैदिक शब्द भी व्यक्ति विशेष मात्र के अर्थ में संकेत पूर्वक नहीं प्रवृत्त हैं। बल्कि वे गो आदि शब्द के समान स्वभाव से ही केवल जाति विशेष के वाचक हैं। फिर एक इन्द्र व्यक्ति के विनष्ट हो जाने पर उस वैदिक इन्द्रादि शब्द से; जिसका बार-बार ब्रह्मा मन में आलोचन करते रहते हैं उसके द्वारा ज्ञात उस शब्द के वाच्यभूत इन्द्रादि आकार को जानकर उसी पूर्वकल्पानुसारी इन्द्र के आकार वाले दूसरे इन्द्र की सृष्टि ब्रह्मा कर देते हैं। जिस तरह कोई कुम्भकार मन में आचोच्यमान घट शब्द के द्वारा कम्बुग्रीवादि मान घटको बनाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि इस कि इस अर्थ का ज्ञान कैसे होता है तो इसका उत्तर है कि प्रत्यक्षानुमानाभ्याम-अर्थात् श्रुति एवं स्मृति के

द्वारा ही इस अर्थ का पता चलता है। निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रजापति के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन करती है—वेदेन रूपे व्यकरोत् सतासती प्रजापतिः।' (तै० अ० २।६) वेदने=सभी वस्तुओं के प्रतिपादक वेद एवं उसके अर्थों के अनुसंधान पूर्वक प्रजापतिः—ब्रह्माने, सतासती=जडचेतना, रूपे=सभी वस्तुओं की, व्यकरोत्=सृष्टि की। (२) स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्। स भुव इति व्याहरत्, सोऽन्तरिक्षमसृजत।' (तै०अ० २।२) अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोक्त भूः शब्दोच्चारण पूर्वक पृथिवी की सृष्टि की। उसने वेदोक्त भुवः शब्द के उच्चारण पूर्वक अन्तरिक्ष लोक की सृष्टि की। इस श्रुति का अभिप्राय है कि तत तत् अर्थों के वाचक शब्द पूर्वक उन-उन विषयों तथा उनके संस्थानों का स्मरण करते हुए विभिन्न वस्तुओं की सृष्टि की। स्मृतियाँ भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहती हैं।

'अनादि निधना ह्येषा, वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः॥

(म० भा० शां० पं० अ० २३१)

सृष्टि के आदि में यह नित्य वैदिक वाणी का स्वयंभू ब्रह्मा के द्वारा उच्चारण किया गया। जिससे सभी देवताओं की सन्तान पैदा हुई। मनु भी कहते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (म० १।२१)

अर्थात् उस प्रजापति ने वैदिक शब्दों एव उनके अर्थानुसंधान पूर्वक सष्टि की आदि में सभी वस्तुओं के आकार रूप एवं नामों की सृष्टि की । श्रीविष्णु पुराणकार भी कहते हैं—

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

[वि० पु० १।५।६३]

सृष्टि की आदि में प्रजापति ने वैदिक शब्दों एवं उनके अर्थों का अनुसंधान करके ही सभी भूतों तथा देवताओं के नाम, रूप, एवं कृत्यों की सृष्टि करके विस्तार किया । अतएव देवता आदि के शरीर युक्त होने पर भी वैदिक शब्दों की अर्थशून्यता तथा वेदों की अनित्यता का प्रसंग नहीं आता है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के श्रीभाष्य के पूर्व पक्ष में यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि देवताओं को सशरीर मानने पर शीरीरो देवताओं की मृत्यु हो जाने पर वैदिक शब्दों को या तो अर्थशून्य मानना होगा । अर्थात् जब इन्द्रादि देवता नहीं होंगे उस समय इन्द्रादि शब्दों का उच्चारण व्यर्थ होगा । अथवा यह मानना होगा कि जिस समय इन्द्रादि देवताओं की मृत्यु हो जायेगी उस समय वैदिक इन्द्रादि शब्द रह ही नहीं जायेंगे । क्योंकि शब्द का नियम है कि वह यावदर्थभावी ही होता है । जैसे यदि संसार में घट का अत्यन्ताभाव हो जाय तो संसार में घट शब्द भी नहीं रह जायेगा । अथवा रहेगा भी तो वन्ध्यापुत्र,

शशशृङ्ग आदि शब्दों के समान अर्थ शून्य होगा।

६३ अत एव च नित्यत्वम् ।१।३।२८॥

मूल—अत एवेन्द्रवसिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिनां तत्तदाकारवाचित्वं, तत्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्विकाच तत्तदर्थसृष्टिः, तत एव *मन्त्रकृतो वृणीते *नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः *अयं सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवतीत्यादिभिर्वसिष्ठादिनां मन्त्रकृत्वमाण्डकृत्वऋषित्वादौ प्रतीयमानेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते। एभिरेव *मन्त्रकृतो वृणीते इत्यादिभिर्वेदशब्दैस्तत्तत्काण्डसूक्तमन्त्रकृतामृषीणामाकृतिशक्त्यादिकं परामृश्य ततदाकारान् तत्तच्छक्तियुक्तांश्च सृष्ट्वा प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मन्त्रादिकरणे नियुङ्क्ते। तेऽपि प्रजापतिना आहितशक्तयस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वपूर्ववसिष्ठादिदृष्टान् तानेव मन्त्रादिननधीत्यैव स्वरतो वर्णतश्चास्खलितान्पश्यन्ति। अतश्च वेदानां नित्यत्वमेषांच मन्त्रकृत्वमुपपद्यते ॥ २८ ॥

अनु०—चूंकि ब्रह्म सृष्टि की वैदिक शब्दों के अनुसार पूर्व कल्पों के अर्थों का स्मरण करके ही पूर्व-पूर्वक रूप के ही

अनुसार उनके नाम एवं रूप की सृष्टि करते हैं अतएव विश्वामित्र आदि के मन्त्रकर्ता (द्रष्टा) होने पर भी मन्त्रादिमय वेद की नित्यता स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

चूंकि इन्द्र वशिष्ठ आदि शब्द देवता एवं ऋषियों (मन्त्रादि प्रतिपाद्य तथा मन्त्र द्रष्टाओं) के विभिन्न आकारों के वाचक हैं। और (सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म द्वारा वैदिक) विभिन्न शब्दों को देख कर उस शब्द के वाच्य भूत अर्थों का स्मरण करके विभिन्न अर्थों की सृष्टि की जाती है, अतएव 'मन्त्रकृतोवृणीते' (तै० आ०) अर्थात् मन्त्र द्रष्य ऋषियों का वरण करता है। 'नमः ऋषिभ्योमन्त्रकृद्भ्यः' (तै० अ० ७। १) अर्थात् मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषिवों कों नमस्कार है।' 'अयं सोऽग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति।' (तै० का० । ५ । २।३) अर्थात् अयं सोऽग्निः इत्यादि मन्त्र से प्रारम्भ होने वाला सूक्त अग्नि का सूक्त है। इत्यादि श्रौत वाक्यों द्वारा वसिष्ठ आदि के मन्त्र के निर्माता काण्डों के निर्माता तथा क्रान्तदर्शित्व आदि की प्रतीति होने पर भी वेदों की नित्यता सिद्ध होती है। इन्ही 'मन्त्रकारों का वरण करता है' इत्यादि वैदिक शब्दों द्वारा विभिन्न काण्डों, सूक्तों तथा मन्त्रों का साक्षात् करने वाले ऋषियों की आकृति तथा शक्ति आदि का परामर्श (मन में निश्चय) करके विभिन्न आकार वालों तथा विभिन्न प्रकार की शक्तियों से युक्त ऋषियों की सृष्टि करके ब्रह्मा सृष्टि

के प्रारम्भ में उन-उन ऋषियों को तत्-तत् मन्त्रों के साक्षात्कार कार्य में नियुक्त करते हैं । वे ऋषिगण भी प्रजापति के द्वारा शक्ति का आधान कर दिये जाने के कारण विभिन्न मन्त्रों के साक्षात्कार करने के योग्य तपस्या करके, नित्य सिद्ध, जिनका पूर्व-पूर्व कल्पवर्ती वशिष्ठ आदि के द्वारा साक्षात्कार किया जा चुका है उन मन्त्रादि का अध्ययन किये बिना ही जिन मन्त्रों का स्वर एवं वर्ण जैसा हैं उनके स्वरों एवं वर्गों का उसी रूप से साक्षात्कार करते हैं । इस तरह वेदों की-नित्यता के साथ इन वशिष्ठ आदि ऋषियों का मन्त्र का (साक्षात्) कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है ।

टिप्पणी—वेदों को नित्य सिद्ध करते हुए पूर्व मीमांसकों का कहना हैं कि ब्रह्मा आदि भी वेदों का अध्ययन गुरु से ही किया करते हैं, क्योंकि वेद नित्य वर्णों का समुदाय रूप है, वे किसी के द्वारा निर्मित नहीं है । किन्तु ऐसा मानने में यह दोष है कि वेदों को नित्य वर्णों का समुदाय रूप मानने पर काव्यादि भी नित्य वर्ण समुदाय रूप होने से नित्य सिद्ध होने लगेंगे । यह सूत्र का एवकार बतलाता है कि चूँकि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा वैदिक शब्द प्रतिपाद्य वेद, वेद द्रष्टा ऋषि तथा उनकी शक्ति आदि का साक्षात्कार करके पूर्व कल्पानुसारी शक्ति सम्पन्न ऋषियों की सृष्टि करते हैं । अतएव वैदिक शब्दों के समान वेदप्रतिपाद्य अर्थों की भी नित्यता सुरक्षित हो जाती है । महर्षि जैमिनि भी 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः' इस सूत्र

में शब्द अर्थ और उनके संबन्ध के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं।

मान्यकृतो वृणीते—इस आरण्यक वाक्य गत मन्त्रकर्तृत्व के स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीभाष्यकार का कहना है कि—मन्त्रों का अध्ययन किए बिना ही पूर्वकल्प में विद्यमान स्वर एवं वर्णों से युक्त मन्त्र के स्वरूप का अपनी तपस्या के द्वारा साक्षात्कार करना ही उनका मन्त्रकर्तृत्व है। ब्रह्मा सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्वकल्प के अनुसार शक्ति से युक्त वशिष्ठ आदि की सृष्टि करके यह आदेश देते है कि ऐसी तपस्या करो कि तुम मन्त्रों का दर्शन कर सको। और वे ऋषिगण पूर्वकल्प के ही समान तपस्या के द्वारा पूर्वकल्प में दृष्ट मन्त्रो का स्वर एवं वर्ण के साथ साक्षात्कार करते हैं। श्रुति भी मन्त्रों का अनुष्ठान उनके ऋषियों के ज्ञान पूर्वक करने का विधान करती हुई कहती है—'योह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतेन मन्त्रेण यजति याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्छति गर्तं वा पद्यते प्रवामीयते, पापीयान् भवति, यातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद, स सर्वमायुरेति श्रेयांश्च भवति, अयातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विधात्।"
अर्थात् जो व्यक्ति मन्त्रों के ऋषि, छन्द, एवं देवता को जाने बिना यजन करता है, अथवा यजन करवाता है, वह ठूँठा वृक्ष होता है, अथवा नरक में जाता है, रोगी हो जाता है, तथा अत्यन्त पापी हो जाता है, उसके वेद भूल जाते है और जो

व्यक्ति प्रत्येक मन्त्रों के ऋषि, छन्द एवं देवता को जानकर अनुष्ठान करता है, वह अपनी पूर्ण आयु प्राप्त करता है। उस का कल्याण होता है। और उन अनुष्ठानकर्ता के वेद सदा तरोताजा बने रहते हैं, भूलते नहीं हैं। अतएव प्रत्येक मन्त्रों के छन्द, ऋषि एवं देवता को जानना चाहिये। शौकनादि महर्षि भी कहते हैं—"दाशतय्यो मधुच्छन्द प्रभृतिभिर्दृश्य:' (शौ०सू०) अर्थात् दाशतय्यी नामक ऋग्वेद के मन्त्रों का मधुच्छन्द आदि ऋषियों ने साक्षात्कार किया। स्वयं महर्षि व्यास कहते हैं—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय:।'
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥"

अर्थात् प्रलयकाल में जिन इतिहासों (आख्यायिकाओं) से युक्त वेदों का लोप हो गया था प्रजापति की आज्ञा प्राप्तकर महर्षियों ने तपस्या करके उन वेदों का साक्षात्कार किया। इस वाक्य में आया हुआ इतिहास शब्द वेदों में आयी हुई आख्या-यिकाओं का ही वाचक है, न कि किसी प्रबन्ध विशेष का वा-चक है। वैदिक शब्दों के ही द्वारा प्रजापति सृष्टि की आदि में वेदों का अर्थज्ञान प्रदान करते हैं—इस अर्थ को बतलाते हुए मनुस्मृतिकार कहते हैं—

'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टय:।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्यैवेभ्यो ददात्यज: ॥'

वेदों में ऋषियों के जो नाम बतलाये गये हैं तथा उनकी जो दृष्टि बतलायी गयी है; उन्हीं विषयों के ज्ञान को

प्रलय काल का अन्त होने पर सृष्टि की आदि में महर्षियों को ब्रह्मा प्रदान करते हैं ।

मूल—अथ स्यात्—नैमित्तिकप्रलयादिष्विन्द्राद्युत्पत्तौ वेदशब्देभ्यः पूर्वपूर्वेन्द्रादिस्मरणेन प्रजापतिना देवादिसृष्टिरुपपद्यतां नाम, प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेर्भूताद्यहङ्कारपरिणामशब्दस्यच विनष्टत्वात्कथं प्रजापतेश्शब्दपूर्विका सृष्टिरुपपद्यते ? कथन्तरां विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वम् ? अतो वेदनित्यत्ववादिना देवादीनां विग्रहत्त्वाभ्युपगमेऽपि लोकव्यवहारस्य प्रवाहानादिताऽऽश्रयणीयेति । अत्रोत्तरं पठति—

६५ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च । १ । ३ । २६ ॥

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्यावृतावपि पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद्विरोधः । तथाहि-स भगवान्पुरुषोत्तमः प्रलयावसानसमये पूर्वसंस्थान जगत्स्मरन् ❀बहु स्यामिति सङ्कल्प्य, भोग्यभोक्तृजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य, महदादिब्रह्माण्डं हिरण्यगर्भपर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा; वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीवि-

शेषसंस्थितानाविष्कृत्य; हिरण्यगर्भायोपदिश्य; पूर्ववदेव। देवाद्याकारजगत्सर्गं तं नियुज्य, स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे। अतो यथोक्त सर्गमुपपन्नम्। एतदेव च वेदस्यापौरुषयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम्। तदस्मासु सर्वेश्वरेऽपि समानम्। इयांस्तु विशेषः—संस्कारानपेक्षमेव स्वयमेवानुसन्धते पुरुषोत्तमः।

अनु०—यदि कोई यह कहे कि नैमित्तिक प्रलय आदि के समय में तो चूकि प्रजापति तो बने ही रहते हैं अतः प्रजापति सृष्टि के समय पूर्व-पूर्व के इन्द्र आदि का स्मरण करके वैदिक शब्दों के सहारे देवता आदि की सृष्टि कर दें, किन्तु प्राकृत प्रलय के समय तो स्वयं इन्द्रादि की सृष्टि करने वाले प्रजापति के तथा तामस् अहंकार जन्य शब्द के भी विनष्ट हो जाने के कारण यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि सृष्टि को आदि मे प्रजापति वैदिक शब्दों के सहारे सृष्टि करें। और जो वेद प्राकृति प्रलयकाल में विनष्ट हो गया है उसकी नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है। अतएव वेद को नित्य मानने वाले [वेदान्तियों] को चाहिये कि वे देवता आदि को सशरीर मानें तो भी वे लोक के व्यवहार के प्रवाह की अनादिता स्वी-

कार करें। [कहने का आशय यह कि--"उन्हें प्राकृत प्रलय आदि को नहीं स्वीकार करना चाहिये। सभी वस्तुओं का विनाश कभी नहीं स्वीकार करना चाहिये।" यदि ऐसा मानना वेदान्तियों के लिए इष्ट हो तो ऐसा भी वे नहीं कह सकते हैं। क्योंकि लोक व्यवहार की नित्यता स्वीकार कर लेने से देवता आदि का विग्रह [शरीर] युक्तत्व तो हो जाता है, किन्तु उन्हें सभी श्रुतियों में प्रतिपादित प्राकृत प्रलय को त्यागना होगा। फलतः श्रुतिस्मृति स्वारस्य विरोध का प्रसङ्ग होगा। इससे तो अच्छा यही होगा कि देवताओ को शरीर युक्त न मानकर शरीर रहित मान लिया जाय तथा ब्रह्मोपासना में उनका अधिकार नहीं माना जाय। ऐसा केवल मानने से प्राकृत प्रलय को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी। अतएव यही मानना युक्तिसंगत है। इस तरह का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर महर्षि बादरायण) इसका उत्तर निम्न सूत्र के द्वारा पढ़ते हैं—

समान नाम रूपत्वाच्चाऽवृत्तावप्यविरोधोदर्शनात् स्मृतेश्च ॥

(१ । ३ । २९)

अर्थात्—अवृतावपि=प्राकृत प्रलय मान लेने पर भी कोई वेदों के नित्यत्व आदि में ब्रह्मसूत्र १।३।२७ एवं २८ में बतलाये गये तत् तत्वैदिक शब्दो के अर्थ स्मरण पूर्वक पूर्व कल्पानुसारी नाम रूप वाली वस्तुओं की सृष्टि रूप अर्थ में विरोध नहीं हो सकता है, क्योंकि प्राकृत प्रलय के पश्चात् भी जो सृष्टि होती है उसमें भी वस्तुओं के नाम और रूप में कोई अन्तर नही

होता है। उस सृष्टि काल में भी वस्तुओं का नाम और रूप वही रहता है जो नाम और रूप पूर्व कल्प में था। इस अर्थ को श्रुतियाँ और स्मृतियाँ बतलाती हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

प्राकृत प्रलयकाल में सम्पूर्ण आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्त वस्तुओं का नाश स्वीकार कर लेने पर भी पहले के १।३।२७ तथा १।३।२८ ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित वैदिक शब्दों के अर्थ स्मरण पूर्वक समान नाम एवं रूप वाली वस्तुओं की सृष्टि स्वीकार कर लेने मात्र से कोई विरोध नहीं होगा। (यदि यहां पर पूर्वपक्षी यह कहें कि जब प्राकृत प्रलय में वस्तुओं के स्रष्टा ब्रह्मा का ही प्रलय हो जाता है तो फिर उनको समान नाम वाली वस्तुओं की सृष्टि का प्रसङ्ग ही कहाँ आता है। तो ऐसी भी बात नहीं है क्योंकि प्रजापति शब्द का निरुपाधिक प्रयोग केवल भगवान् पुरुषोत्तम के लिए ही होता है। प्रलय काल के समाप्त होने पर— पूर्व कल्प में विद्यमान जगत् के नाम एवं रूप का स्मरण करते हुए (बहु स्याम) मैं एक से अनेक हो जाऊं, समष्टि सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि में आ जाऊं इस प्रकार का सत्य संकल्प करके जिनकी केवल शक्ति ही अवशिष्ट है ऐसे अपने में ही प्रलीन भोग्य (प्राकृतिक वस्तु समुदाय) तथा भोक्ता जीव वर्ग का विभाग करके, महत् तत्व से लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा पर्यन्त पूर्व कल्प के समान नाम रूप से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि करके तथा पूर्व कल्प में विद्यमान आनुपूर्वी से युक्त वेदों को भी प्रकट

करके तथा उस सम्पूर्ण वेद का ब्रह्मा को उपदेश देकर पूर्व कल्पानुसारी देवादि से युक्त जगत की सृष्टि करने का ब्रह्मा को आदेश देकर भगवान् भी स्वयं उस ब्रह्मा की अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) रूप से उनके हृदय में प्रवेश कर गये । अतएव-१ । ३ । २७ तथा १ । ३ । २८ सूत्रों में जो पहले यह बतलाया गया है कि प्रजापति पूर्व कल्पानुसारी नित्य वैदिक शब्दार्थों का स्मरण करके सृष्टि करते हैं यह सिद्ध हो गया ।

[यहां पर नैयायिक एवं मीमांसक यह शंका कर सकते हैं कि तो वेद की नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है, जब कि उसका प्राकृत प्रलयकाल में लय हो ही जाता है, तथा उसकी अपौरुषेयता कैसे बनी रह सकती है । जब कि सृष्टि की आदि में भगवान् पूर्व कल्पानुसारी अनुपूर्वी से युक्त वेदों को स्वयं अविष्कृत करते हैं—' तो इसका उत्तर देते हुए श्री भाष्यकार स्वामी रामानुजाचार्य कहते हैं—वेद की अपौरुषेयता तथा नित्यता का अभिप्राय यह है कि—पहले के कल्पों में वेदों का उच्चारण के क्रम से उत्पन्न जो संस्कार बिना किसी प्रकार के स्खलन के उसी क्रम विशेष [आनुपूर्वी] को स्मरण करके उच्चारण किया जाना ही वेद की अपौरुषेयता है । इस तरह का उच्चारण मात्र ही परमात्मा सृष्टि की आदि में किया करते हैं । किसी अभूत पूर्व नवीन वेद का निर्माण नहीं करते हैं । (अतएव पूर्व-पूर्व कल्प में विद्यमान वेद का उसी आनुपूर्वी के साथ उच्चा-

रण मात्र कर्त्ता ईश्वर के होने के कारण वेदों की अपौरुषेयता अक्षुण्ण है। तथा उसकी नित्यता भी बनी रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब हम लोग और परमात्मा दोनो वेदो के उच्चारणकर्त्ता मात्र है तो ईश्वर और जीवात्मा में अन्तर ही क्या रह गया ? तो इसका उत्तर है कि हम जीवो का जो उच्चारण होता है वह संस्कार सापेक्ष होता है, अतएव उनका आचार्य के यहाँ अध्ययन करना अपेक्षित होता है। और परमात्मा संस्कार निरपेक्ष होकर स्वयं ही उसका स्मरण करके उच्चारण किया करते हैं।

टिप्पणी—नैमित्तिक प्रलय उस प्रलय को कहते है जिस समय ब्रह्मा का दिनमान समाप्त हो जाता है और उनकी अपनी मान से रात्रि जब आ जाती है तो वे अपनी सृष्टि को समेट कर रात्रि पर्यन्त सो जाते हैं। प्रलयादि का आदि पद मन्वन्तर आदि को बतलाता है एक मन्वन्तर के बीतने पर इन्द्रादि देवताओं का नाश हो जाता है। किन्तु इन प्रलयों में ब्रह्मा का नाश नहीं होता है। अतएव पूर्वकालमें विद्यमान वस्तुओं के नाम और रूप का वैदिक शब्दों के सहारे स्मरण करके उन वस्तुओं की सृष्टि ब्रह्मा कर देते हैं। किन्तु प्राकृत प्रलय में तो ब्रह्मा का भी लय हो जाता है। अतएव उनकी सृष्टि के आदि में सृष्टि प्रारम्भ करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। प्राकृतिक प्रलय में महत्तत्त्व भी लीन हो जाता है। और जिस तामस् अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है वह अहंकार महत्

तत्त्व का कार्य है। जब कारण ही नष्ट हो गया तो उसकी कार्य परम्परा में आने वाला शब्द स्वरूप वेद कैसे बना रह सकता है ? अतएव प्राकृत प्रलय काल में वेद की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती है। यह पूर्वपक्षी के कहने का आशय है।

वेदों को पौरुषेय बतलाते हुए नैयायिकों का कहना है कि चूंकि सृष्टि की आदि में ईश्वर वेदों का उच्चारण करके ब्रह्मा को उसका उपदेश देता है अतएव वेदों को पौरुषेय मानना चाहिये। किन्तु उनके इस कथन में यह दोष है कि यदि पुरुष के द्वारा उच्चारण करने मात्र से ही वेद पौरुषेय हो गया तो फिर ईश्वर के उच्चारण को ही वेद की पौरुषेयता का प्रयोजक क्यों माना जाय ! आज के हम लोग [आचार्य और शिष्य] भी तो वेदों का उच्चारण करते हैं, अतएव हम लोगों का ही उच्चारण वेद के पौरुषेयत्व का प्रयोजक [कारण] क्यों नहीं बन जाता है ? अतएव पौरुषेयत्व का इतना ही लक्षण मानना चाहिये कि—परमात्मा के संकल्प के अधीन पूर्व काल में न रहने वाले [अपूर्व] क्रम से युक्त उच्चारण को पौरुषेय कहते हैं।' किन्तु सर्वज्ञ, —सर्ववेत्ता परमात्मा पूर्व कल्प में उच्चारित आनुपूर्वीक वेद का ही उसी क्रम से उच्चारण करता है। प्रलय काल में भी परमात्मा को वेद याद रहते हैं अतएव वेद को अपौरुषेय तथा नित्य ही स्वीकार करना चाहिये। वेद की नित्यता का कारण उच्चारणानुसार पूर्वोक्तत्व की समरूपता

ही स्वीकार करनी चाहिये; मीमांसकों जैसी पद की नित्यता अथवा वर्ण की नित्यता नहीं । क्योंकि पद अथवा वर्ण की नित्यता स्वीकार करने पर रघुवंश आदि ग्रन्थों के भी पद अथवा वर्णों के नित्य होने से, रघुवंश आदि ग्रन्थ भी नित्य होने लग जायेंगे ।

मूल—कुत इदं यथोक्तमवगम्यत इति चेत्, तत्राह—दर्शनात् स्मृतेश्च । दर्शनं तावत् *यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा इति । स्मृतिरपि मानवी *आसीदिदं तमोभूतम् इत्यारभ्य *सोऽभि-ध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीर्यमपासृजत् ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ इति । तथा पौराणिकी *तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत् । तस्मिन्पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्ग-पारगः ॥ ब्रह्मोत्पन्नस्स तेनोक्तः प्रजास्सृज महामते ॥ तथा *परो नारायणो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः इति । तथा *आदिसर्गमहं वक्ष्ये, इत्यारभ्योच्यते—*सृष्ट्वा नारं तोयमन्तस्स्थितोऽहं येन स्यान्मे नाम नारायणेति । कल्पेकल्पे तत्र शयामि भूयस्सुप्तस्य मे नाभिजं स्या-

द्यथाऽब्जम् ॥ एवंभूतस्य मे देवि नाभिपद्मे चतुर्मुखः ।
उत्पन्नःस मया चोक्तः प्रजास्सृज महामते ॥इति॥

अतो देवादीनामप्यर्थित्वसामर्थ्ययोगाद्ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ २९ ॥

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि—पूर्व कल्प में विद्यमान नाम रूपो से युक्त ही वस्तु की सृष्टि प्राकृत प्रलय के बाद में भी प्रारम्भ होने वाली सृष्टि मे होती है, इस अर्थ का ज्ञान कैसे हुआ । तो इसका उत्तर है कि—दर्शनात् स्मृतेश्च । अर्थात् "इस अर्थ को श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ बतलाती हैं ।" (श्वे० ६।१८) श्रुति बतलाती है कि—जो परमात्मा सृष्टि की आदि में ब्रह्मा की सष्टि करता है; तथा जिस परमात्मा ने वेदों का उपदेश ब्रह्मा को दिया । मनुस्मृति भी—"सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् अन्धकाराच्छन्न था ।" (म० १।५) से प्रारम्भ करके बतलाती है कि—उस परमात्मा ने अपने सत्य संकल्प रूप ध्यान के द्वारा अपने शरीर से अनेक प्रकार को प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से सर्व प्रथम जल की सृष्टि कर उसमें बीज डाला । उससे वह हजारो सूर्य के सदृश चमकता हुआ स्वर्णिम अण्डाकार बन गया । उसमें सभी लोकों के पितामह ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए । तथा नारसिंह पुराण की भी सूक्ति बतलाती है कि—उस प्रलयकाल में सोये हुए परमात्मा की नाभि में कमल उग आया । हे महाभाग ! उस कमल पर सभी वेदों

तथा वेदाङ्गों के जानकार ब्रह्मा उत्पन्न हुए । और भगवान् ने उन्हे आदेश दिया कि हे महाबुद्धिमान् ब्रह्मन् तुम प्रजा की सृष्टि करो (नारसिं० ३।१) वाराहपुराण के दशवें अध्याय में भी कहा गया है कि–दिव्य गुण सम्पन्न भगवान् नारायण सबसे महान् है और उनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए । और वाराहपुराण के दूसरे अध्याय में—मै आदि सृष्टि तुम्हें बतलाऊँगा—इस श्लोक से लेकर 'नित्य पदार्थ समूह तथा जल की सृष्टि करके उसके भीतर अन्तर्यामी रूप से मै स्थित हूँ,' जिससे कि मेरा नाम नारायण हो । मैं प्रत्येक कल्पो में बार–बार जल में शयन करता हूँ जिससे कि सोए हुए मेरे नाभि से कमल उत्पन्न हो । हे देवि ! इस तरह के मेरे नाभि कमल में ब्रह्मा उत्पन्न हुए और उन्हे मैने आदेश दिया कि हे महामते ! आप प्रजाओं की सृष्टि करें ।

इस तरह देवताओं में भी अर्थी होने का सामर्थ्य पाये जाने के कारण उनका ब्रह्मविद्या में अधिकार है, यह सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

इस तरह देवताधिकरण के श्रीभाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।

॥ मध्वधिकरण का प्रारम्भ ॥

९४ मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः १।३।३०

मूल—ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम् । इद–

मिदानीं चिन्त्यते-येषूपासनेषु या देवता एवोपास्या-स्तेषु तासामधिकारोऽस्ति नेति। किं प्राप्तम् ? नास्त्य-धिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? असंभवात्—न ह्यादित्यवस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वा-दयोऽन्ये संभवन्ति । न च वस्वादीनां सतां वस्वादित्वं प्राप्यं भवति; प्राप्तत्वात् । मधुविद्यायामृग्वेदादिप्रति-पाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारेण प्राप्तस्य रसस्याश्रय-तया लब्धमधुव्यपदेशस्यादित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भु-ज्यमानानामुपास्यत्वं बस्वादित्वँ च प्राप्यं श्रूयते *असौ वा आदित्यो देवमधु इत्युपक्रम्य तद्यत्प्रथममृतं यद्वसव उपजीवन्तीत्युक्त्वा *स य एतदेवममृतं वेद वसूनामे-वैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति इत्यादिना ॥ ३० ॥

अनु०—मधु विद्या आदि विद्याओं में उपास्य रूप से वर्णित वसु आदित्यादि देवताओं का उपासना करने का अधिकार असंभव है क्योंकि एक ही क्रिया में एक ही व्यक्ति का कर्ता और कर्म होने में न तो सामर्थ्य ही सम्भव है और न तो उपास्य वस्वादि में वसुत्व आदित्मत्व आदि की प्राप्ति के लिए अर्थित्व ही सम्भव है। इन दो हेतुओं से वस्वादित्यादि पञ्चदेव गण

मधु विद्या आदि विद्याओं के उपासक नहीं हो सकते हैं; यह आचार्य जैमिनि मानते हैं। (यह सूत्रार्थ हुआ।)

उपर्युक्त देवताधिकरण में इस बात पर बिचार किया गया है कि ब्रह्म विद्याओं की उपासना में देवताओं का भी अधिकार है। प्रस्तुत अधिकरण में इस बात पर बिचार किया जा रहा है कि जिन मधु विद्या आदि विद्याओं में वसु आदित्य आदि ही उपास्य हैं उन विद्याओं की उपासना में उस बिद्या के उपास्यभूत वसु आदित्य आदि देवताओं का अधिकार है कि नहीं ? जैमिनि महर्षि मानते हैं कि उन विद्याओं में उनका अधिकार नहीं है। क्योंकि असंभवात्=आदित्य वसु आदि देवताओं के आदित्य वसु आदि अन्य देवता उपास्य नहीं हो सकते है। और न तो वसु आदि देवताओं के लिए वसुत्व आदि की प्राप्ति ही प्राप्य हो सकती है, क्योंकि वसुत्व आदि तो उन्हे स्वयं प्राप्त है। (वसुत्व आदि की प्राप्ति ही इन मध्वादि विद्याओं की उपासना का फल है।)

मधुविद्या में ऋग्वेद आदि के द्वारा प्रतिपाद्य कर्मों के द्वारा निष्पाद्य तथा 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमु पतिष्ठते। अर्थात् अग्नि में डाली गयी आहुति अच्छी तरह से आदित्यादि आराध्य देवताओं के पास पहुंचती है इत्यादि न्याय से) किरणों के द्वारा प्राप्त; इस विद्या के आश्रय भूत जो आदित्य के अंश हैं जिनको इस विद्या में प्राप्त मधु बतलाया गया है तथा जिनका वसु आदि देवतागण उपभोग करते हैं वे ही इस विद्या

के उपास्य हैं तथा इस विद्या के द्वारा प्राप्य वसुत्व आदि फल हैं।) वह मधु विद्या 'निश्चय ही विप्रकृष्ट देशवर्ती आदित्य देवताओं का मधु है।' (छा० उ० ३।१।१) से प्रारम्भ करके 'वह जो प्रथम अमृत है वह वसुओ का उपजीव्य है।' (छा० उ० ३।६।१) कहकर जो व्यक्ति इस प्रकार के अमृत को जानता है वह वसुओं में हो प्रधान होकर अपने अपने अग्नि रूपी मुख के द्वारा इस अमृत का दर्शन (साक्षात्कार रूप उपभोग) करता हुआ तृप्त हो जाता है।' (छा० उ० ३।६।३) इत्यादि श्रुति के द्वारा बतलायी गयी है।

टिप्पणी—यहमध्वधिकरण केवल मधुविद्या परक ही नहीं है, अपितु मधुविद्या जैसी जितनी विद्याएँ है वे सभी विद्याएँ इस अधिकरण के विषय है। इसी अर्थ को बतलाने के लिए श्रीभाष्यकार स्वामीजी मधुविद्यादिषु में आदि पद का प्रयोगकरते हैं। इस अधिकरण का विचारणीय विषय है कि मधु आदि विद्याओं के उपास्य भूत वसु आदि का मधु आदि विद्याओ की उपासना में अधिकार है कि नहीं ? अतएव 'य एतदेवममृतं वेद' (३।६।३) श्रुति का यत् शब्द केवल वसु आदि का ही वाचक है अथवा तद्व्यतिरिक्त किसी दूसरे का ? और उस देवता का उस विद्या के उपसंहार (अनुष्ठान) में सामर्थ्य है अथवा नहीं ? साथ ही मधुविद्या मे केवल वसु आदि देवताओ की ही उपासना बतलायी गयी है अथवा उनके अन्तर्यामी रूप से विद्यमान ब्रह्म की ? इस विद्या का फल केवल वसुत्व आदि की प्राप्ति मात्र

है अथवा वह वसुत्व ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त फल का वाचक है ? यदि वसु हो जाना मात्र ही इस विद्या का फल होगा तो फिर वसु आदि के ही उपास्य होने से तथा उस देवता का उस विद्या के उपसंहार (अनुष्ठान) में सामर्थ्य न हो सकने के कारण श्रुति के यत् शब्द वाच्य वसु व्यतिरिक्ति ही होंगे और वसु आदि का उस विद्या में अधिकार संभव नहीं होगा। किन्तु वसुत्व रूपी फल को यदि ब्रह्म की प्राप्ति पर्यन्त माना गया तो उसके उपास्य ब्रह्म होने के कारण उस विद्या के उपसंहार में सामर्थ्य होने से यत् शब्द वाच्य वसु आदि सभी उपासक होंगे। अतएव वसु आदि का भी उस विद्या की प्राप्ति में अधिकार होगा। इस अधिकरण का सिद्धान्त है कि वसुत्वरूपी फल की प्राप्ति ब्रह्मा की प्राप्ति पर्यन्त है। यह १।३।३२ सूत्र में बतलाया जायेगा। १।३।३० तथा १।३।३१ सूत्र में पूर्वपक्ष को उपस्थित किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के (३ । १ । १) श्रुति से प्रारम्भ होने वाली मधु विद्या में साङ्ग रूपक के माध्यम से आदित्य को मधु, सूर्य की किरणों को मधुनाडी (जिन छिद्रों में मधु रहता है मधु का छाता) ऋग्वेद आदि वेदों को पुष्प, और वैदिक विधियों से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्यों को पुष्प का रस बतलाया गया है। जिस तरह मधु का पुष्पों से रस लेकर मधु नाडियों में मधु का आधान करता है उसी तरह वैदिक मन्त्र वेद नामक पुष्प के विभिन्न कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले

आहुति द्रव्यात्मक रस को किरणों के द्वारा लाकर सूर्य में आहित करते हैं। इस तरह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद तथा ब्राह्मण भागात्मक वेद पुष्प के रस उपासक के यश इन्द्रिय आदि फलों के रूप में परिणत हो जाते है । वे ऋग्वेद यजुर्वेद आदि वेदों के मन्त्रों द्वारा लाये जाकर, सूर्य के आगे, दायें, बायें, पीछे, तथा ऊपर इन पाञ्च भागों में लाल; उजला, काला, अत्यन्त काला तथा प्रस्फुरद्भाग रूप पाञ्च रूपों में आहित किये जाते हैं। और उनका समयानुसार क्रमशः वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण तथा साध्य देवगण दर्शनात्मक भोग करते हैं।

६६ ज्योतिष भावाच्च ।१।३।३१।।

मूल—❀**तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमिति ज्योतिषि—परस्मिन्ब्रह्मणि उपासनं देवानां श्रूयते । देवमनुष्योभयसाधारणे परब्रह्मोपासने देवानामुपास-कत्वकथनं देवानामितरोपासननिवृत्तां द्योतयति । अत एषु वस्वादीनामनधिकारः ।। ३२ ।।**

अनु०—और देवताओं का परंब्रह्म की ही उपासना में अधिकार पाये जाने के कारण भी वसु आदि की उपास्यता को बतलाने वाली मधु आदि विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है । (यह सूत्रार्थ हुआ ।) 'निश्चय ही देवगण उस पर ब्रह्म की जो ज्योतियों की उपजीव्यभूतज्योति' तथा आयु एवं

अमृत स्वरूप है, की उपासना करते हैं।' [छा० उ० ६ । ४। १६] इस श्रुति से पता चलता है कि देवता परंब्रह्म की ही उपासना करते हैं। यद्यपि परंब्रह्म की उपासना तो देवता और मनुष्य दोनों समान रूप से कर सकते हैं, फिर भी उक्त श्रुति में देवताओं द्वारा ब्रह्म की उपासना को बतलाकर यह बतलाया है कि देवता ब्रह्म की उपासना छोड़कर दूसरे की उपासना नहीं करते हैं। अतएव इन मधु आदि विद्याओं में बसु आदि का उपासना का अधिकार नहीं है। [क्योंकि यह ब्रह्मोपासना तो है नहीं। यह पूर्व पक्षी का अभिप्राय है।]

टिप्पणी—देवमनुष्योभयसाधारणे—इत्यादि वाक्य का अभिप्राय हैं कि [बृ० ६। ४। १६] श्रुति का 'देवाहृज्योति उपासते' अर्थात् देवता परंब्रह्म की उपासना करतें हैं वाक्य का 'देवा एव ज्योतिः उपासते' अर्थात् देवता ही परंब्रह्म की ही उपासना करते हैं।' या 'देवा ज्योति उपासते एव' अर्थात् देवता परंब्रह्म की उपासना करते ही हैं। 'अयोग व्यवच्छेदक, अन्य योग व्यवच्छेदक तथा अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक रूप साकार के सहकार से उपर्युक्त तीन प्रकार का अर्थ सम्भव है। फिर श्रीभाष्यकार स्वामी का कहना है कि प्रस्तुत श्रुति में पूर्वपक्षी को अन्य योग व्यवच्छेदक रूप ही अर्थ अभिप्रेत है अतएव द्वितीय कल्प में प्रतिपादित देवता ज्योति की ही उपासना करते हैं यही मानना चाहिये, अन्य किसी दूसरे की नहीं। प्रथम कल्प इस लिए मान्य नहीं है कि ब्रह्मोपासना में मनुष्यों का भी अधिकार

है। तृतीय कल्प इसलिये मान्य नही है कि बहुत से देवता अनुपासक भी होते हैं। यह कोई नियम नही हैं कि सभी देवता ब्रह्म की उपासना करे ही।

६७ भावं तु बादरायणोऽस्ति हि १।३।३२॥

मूल—आदित्यवस्वादीनामपि तेष्वधिकारभावं भगवान्बादरायणो मन्यते। अस्ति ह्यादित्यवस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्वप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्रेप्सासंभवः। इदानीं वस्वादीनामपि सतां कल्पान्तरेऽपि वस्वादित्वप्राप्तिश्चापेक्षिता भवति। अत्र हि कार्यंकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनं विधीयते *असौ वा आदित्यो देवमधु *इत्यारभ्य *अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य *इत्यतः प्रागादित्यवस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते, *अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य *इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थमेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते। तदेवं कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदन्ते कारणं परं ब्रह्मैवाप्नोति। *न ह वा अस्मा उदेति न निम्रोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद इति कृत्स्नाया

मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषत्त्व श्रवणाद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्वा-दित्वफलस्य श्रवणाच्च वस्वादिभोग्यभूतादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं तदवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यते। अत एवंविधमुपासनमादित्यवस्वादीनामपि संभवति। एवञ्च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् *तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरित्यप्युपपद्यते। तदाह वृत्तिकारः *अस्ति हि मध्वादिषु संभवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निचाय्यत्वात् इति ॥ ३२ ॥

अनु०—उपर्युक्त दो सूत्रों के द्वारा पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—

भावं तु बादरायणः अस्ति हि ॥१।३।३२॥

अर्थात् भगवान् बादरायण मानते हैं कि वसु आदित्य आदि का भी मधुविद्या आदि विद्याओं की उपासना में अधिकार है। यह सूत्रार्थ है। क्योंकि आदित्य वसु आदि द्वारा भी अपने अन्तर्यामी रूप से विद्यमान परब्रह्म की उपासना किये जाने के कारण वसुत्व आदित्यत्व की प्राप्ति की इच्छा संभव है। साथ ही जो इस कल्प में वसु आदि हो चुके हैं उनको इस बात की भी अपेक्षा होती है कि वे कल्पान्तर में भी वसुआदि होएँ। इस मधुविद्या में कारणावस्थावस्थित तथा कार्यावस्था-वस्थित दोनों प्रकार के ब्रह्म की उपासना का विधान किया

गया है । (छा० उ० ३।१।१) 'विप्रकृष्ट देशस्थित आदित्य, वसु आदि देवताओ के मोद का कारण होने से देवताओ का मधु है ।' इस श्रुति से प्रारम्भ करके 'अथ तत उर्ध्व उदेत्य' (छा० उ० ३।११।१) श्रुति से पहले तक आदित्य वसु आदि जीव शरीरक कार्यावस्था वस्थित ब्रह्म का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है । और 'अथ तत उर्ध्व उदेत्य' (छा० ३।११।१) (अर्थात् ब्रह्मा के दिन रूप कल्प की समाप्ति हो जाने पर अपने उदय तथा अस्तमन रूप प्राणियों पर कृपा करने के पश्चात् उदय होना तथा अस्त होना रूप प्राणियों पर कृपा न करके) इत्यादि श्रुति के द्वारा आदित्य आदि की अन्तरात्मा रूप से विद्यमान् कारणावस्था वस्थित ही ब्रह्म का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है । इस तरह कारणावस्था वस्थित तथा कार्यावस्था वस्थित दोनों प्रकार की उपासना करने वाला उपासक दूसरे कल्प में वसु आदि होकर उस कल्प के समाप्त होने पर अपने कारण रूप से विद्यमान परंब्रह्म को ही प्राप्त करता है । 'जो इस मधुविद्या रूप ब्रह्मविद्या को जानकर उसका अनुष्ठान करता है उसके लिए न तो सूर्योदय होता है और न तो सूर्यास्त । क्योंकि उसके लिए शाश्वत ज्ञान का प्रकाश हो जाने से हमेशा हमेशा के लिए एक ही दिन (प्रकाशावच्छिन्न काल) हो जाता है । वह सर्वदा यथेष्ठ रूह से सभी विषयों को जानता रहता है अतएव सूर्योदय अथवा सूर्यास्त से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता है । [छा० उ० ३।११।३] इस तरह

सम्पूर्ण मधु विद्या के ब्रह्मविद्या के रूप में सुने जाने के कारण तथा वसुत्व आदित्यत्व इत्यादि फलों की प्राप्ति का पर्यवसान ब्रह्मत्व की प्राप्ति में होता है। अतएव वसु आदि के भोग्यभूत आदित्य के अंश की उपासना का जो विधान किया गया है वह कारणावस्थावस्थित ब्रह्म की ही उपासना प्रतीत होती है। इस प्रकार की उपासना में आदित्य वसु आदि का भी अधिकार हो सकता है। अतएव ब्रह्म के ही इस विद्या में भी उपास्य होने के कारण 'देवतागण उस ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं।' (बृ० ४।६।१६ इस श्रुति की भी संगति बैठ जाती है। इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए वृत्तिकार भी कहते हैं—मधु आदि विद्याओं की उपासना में देवताओं का भी अधिकार संभव है क्योंकि उन मधु आदि विद्याओं में भी सर्वत्र ब्रह्म ही ध्येय रूप से बतलाये गये हैं। इस तरह मधु अधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

९८ शुगस्य तदनादर श्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।१।३, ३३॥

मूल—ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेति विचार्यते, किं युक्तं ? अस्तीति। कुतः ? अर्थित्वसामर्थ्यप्रयुक्तत्वादधिकारस्य, शूद्रस्यापि तत्संभवात्। यद्यप्यग्निविद्यासाध्येषु कर्मस्वनग्निविद्यत्वाच्छूद्रस्यानधिकारः, तथापि मनोवृत्ति-

मात्रत्वाद्ब्रह्मोपासनस्य तत्राधिकारोऽस्त्येव। शास्त्रीयक्रिया-पेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचितक्रियाया एवापेक्षि-तत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्णशुश्रूषैव क्रिया भविष्यति। *तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकॢप्तः इत्यप्यग्नि-विद्यासाध्ययज्ञादिकर्मानधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूद्यते।

अनु०—'हे ब्रह्मज्ञान विधुर होने के कारण शोक युक्त जानश्रुति पौत्रायण! दक्षिणा में लायी हुई अपनी इन गौ आदि को लौटा ले आओ' (आजहारेमाश्शूद्र!') (छा० उ० ४। २।५) इत्यादि श्रुति में ब्रह्मोपदेश के प्रकरण में महात्मा रैक्व का शिष्य जानश्रुति पौत्रायण के प्रति शूद्र शब्द से सम्बोधित ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के अभाव के कारण किया गया है। न कि उसके शूद्र जाति का होने के कारण। उसे शोक युक्त होने के कारण शूद्र कहा गया है। क्योंकि—ब्रह्म विद्या का ज्ञान न होने से अपने प्रति हंसों के द्वारा कहे गये अनादर पूर्ण वाक्यों को सुनकर दुखी होने के कारण तथा क्षत्ता द्वारा पता लगाकर बुलाये गये आचार्य रैक्व के पास विद्या प्राप्ति के लिए सोपहार शीघ्र जाने के कारण भी इस अर्थ का पता चलता है कि राजा के शोक युक्त होने के ही कारण उसे शूद्र शब्द से सम्बोधित किया गया है। सूत्र का 'हि' शब्द हेतु का वाचक है! चूँकि प्रस्तुत छान्दोग्योपनिषद् के [४।३।५] श्रुति में शूद्र शब्द से सम्बोधित शूद्र जाति का न केवल शोक युक्त होने के कारण

किया गया है, अतएव शूद्र का ब्रह्मोपासना में अधिकार नहीं है, यह सूचित होता है। यह सूत्रार्थ हुआ।

इस अधिकरण में यह बिचार किया जाता है कि शूद्र का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है कि नहीं ? क्या मानना उचित है ? पूर्व पक्षी का कहना है कि शूद्र का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार मानना चाहिए। क्योंकि अधिकार के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं—[१] अर्थीत्व होना [२] सामर्थ्य होना। ये दोनों बातें शूद्र में भी सम्भव है। वह ब्रह्मोपासना का अर्थी भी हो सकता है तथा उसमें ब्रह्मोपासना का सामर्थ्य भी हो सकता है। यद्यपि आहवनीय अग्नि आदि की आराधना से तथा अध्ययन जन्य अर्थ के ज्ञान के द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कर्मों के विषय में आहवनीय आदि की आराधना तथा वेदों का आचार्य के सन्निकट में श्रवणादि न कर सकने के कारण शूद्रों का अधिकार पूर्व मीमांसा के अपशूद्राधिकरण में 'अपि वा वेद निर्देशादयंशूद्राणां प्रतीयते' इत्यादि सूत्रों के द्वारा बतलाया गया है, फिर भी ब्रह्मोपासना के तो मनोवृत्ति मात्र से ही साध्य होने के कारण उसमें तो शूद्रों का अधिकार है ही। यद्यपि उपासना में भी शास्त्रीय क्रियाएँ अपेक्षित होती हैं फिर भी उपासना में वे ही क्रियाएं अपेक्षित हैं जो तत् तत् वर्णों एवं आश्रमों के लिए विहित हैं, इस तरह शूद्र के लिए अपने वर्ण के लिए उचित त्रैवर्णिकों की सेवा ही शास्त्रीय क्रिया हो सकती है। [यहां पर यदि यह कहा जाय कि— [यजु० का० ७।१।१।१]

तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' सूत्र का यज्ञ शब्द केवल यज्ञ का ही वाचक न होकर क्रियाओं का भी उपलक्षक होने के कारण बतलाता है कि शूद्रों का यज्ञों तथा उपासनाओं में अधिकार नही है। अतएव किसी भी वैदिक कर्म में शूद्रों का अधिकार नही है। तो यह इसलिए नही कहा जा सकता कि—। 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' अर्थात अग्न्याधान तथा अध्ययन श्रवण आदि से रहित होने के कारण शूद्र का यज्ञ में कोई अधिकार नही है।' यह सूत्र भी पूर्व मीमांसा के अपशूद्राधिकरण न्याय सिद्ध अग्नि=आधानादि के द्वारा संस्कृत आहवनीयादि अग्नि की सेवा तथा अध्ययनादि [श्रवण, मनन, निदिध्यासन] के द्वारा साध्य यज्ञादि कर्मों में ही शूद्रों के अनधिकार का अनुवाद करता है। [ब्रह्म विद्या में तो अग्न्याधान आदि की अपेक्षा होती नही है, किञ्च सूत्र में यह बतलाया गया है कि शूद्रों का यज्ञों में अधिकार नहीं है, इसका अर्थ यह भी हुआ कि उपासना में तो अधिकार है ही।]

मूल—नन्वनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारानभिज्ञस्य कथं ब्रह्मोपासनं संभवति ? उच्यते—अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापीतिहासपुराणश्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनज्ञानं संभवति। अस्ति च शूद्रस्यापीतिहासपुराणश्रवणानुज्ञा ❀श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः इत्यादौ। दृश्यन्ते चेतिहासपुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठाः। तथोपनिषत्स्वपि सं-

वर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्याधिकारः प्रतीयते—शुश्रूषुं हि जानश्रुतिमाचार्यो रैक्वशूद्रेत्यामन्त्र्य तस्मै ब्रह्मविद्यामुपदिशति—*आजहारेमाश्शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः इत्यादिना । अतश्शूद्रस्याप्यधिकारस्संभवति ॥

अनु०—अब प्रश्न यह उठता है कि जिसने आचार्य के सन्निकट में बैठकर वेदों का अध्ययन नहीं किया है तथा वेदान्त वाक्यों के अर्थों को नहीं सुना है, वह ब्रह्म के स्वरूप, तथा ब्रह्म की उपासना के प्रकार से अनभिज्ञ होगा ऐसे शूद्र के द्वारा ब्रह्म को उपासना कैसे संभव है ? तो इसका उत्तर है कि बिना वेदों का अध्ययन किये हुए तथा वेदान्त वाक्यों के अर्थ का श्रवण किये विना भी वेदार्थों का उपबृंहण करने वाले इतिहासों तथा पुराणों का श्रवण करने के कारण भी शूद्रों को ब्रह्म के स्वरूप तथा उनकी उपासना के प्रकार का ज्ञान सभव है । 'महाभारत के शान्ति पर्व में शूद्र को भी इतिहास एवं पुराण को सुनने की आज्ञा दी गयी है—श्रावयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत.' अर्थात् ब्राह्मण को आगे बैठाकर चारों वर्णों के मनुष्यों को पुराणादि सुनाना चाहिये ।' इत्यादि वाक्यों में यह बतलाया ही गया है । इतिहासों और पुराणों में सुना भी जात है कि विदुर आदि शूद्र जाति के भी होकर ब्रह्म ज्ञानी थे । इसी तरह उपनिषदों के संवर्ग विद्या में भी शूद्रों का अधिकार

ब्रह्म विद्या में प्रतीत होता है। छान्दोग्योपनिषत् के चौथे अध्याय में वर्णित संवर्ग विद्या में आचार्य रैक्व शुश्रुषु जानश्रुति को शूद्र शब्द से संबोधित करके उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं वे कहते हैं—आजहारेमाः शूद्र ! अनेनैव मुखेनालपयिष्यथाः।" (छा० उ० ४।२।५) हे शूद्र ! उपहार में लायी गयी इन गौओं तथा कन्याओं आदि को लौटा ले जाओ। उन्हीं साधनों के द्वारा मुझसे ब्रह्मविद्या का उपदेश सुनोगे। इत्यादि वाक्यों में शूद्रों का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार प्रतीत होता है। अतएव शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार संभव है।

मूल—इति प्राप्त उच्यते—न शूद्रस्याधिकारस्संभवति; सामर्थ्याभावात्। नहि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानतस्तदङ्गभूतवेदानुवचनयज्ञादिष्वनधिकृतस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यंसंभवः। असमर्थस्य चार्थित्वसद्भावेऽप्यधिकारो न संभवति। असामर्थ्यं च वेदाध्ययनाभावात्। यथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्धस्वाध्यायसम्पाद्यज्ञानलाभेन कर्मविधयो ज्ञानतदुपायादीनपरान्न स्वीकुर्वन्ति, तथा ब्रह्मोपासनविधयोऽपि। अतोऽध्ययनविधिसिद्धस्वाध्यायाधिगतज्ञानस्यैव ब्रह्मोपासनोपायत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासनसामर्थ्यासंभवः। इतिहासपुराणे

अपि वेदोपबृंहणं कुर्वती एवोपायभावमनुभवतः, न स्वातन्त्र्येण । शूद्रस्येतिहासपुराणश्रवणानुज्ञानं, पापक्षयादिफलार्थम्; नोपासनार्थम् । विदुरादयस्तु भवान्तराधिगतज्ञानाप्रमोषात् ज्ञानवन्तः प्रारब्धकर्मवशाच्चेदृशजन्मयोगिन इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम् ॥

यत्तु संवर्गविद्यायां शुश्रूषोशूद्रेति संबोधनं शूद्रस्याधिकारं सूचयतीति; तन्नेत्याह—शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि । शुश्रूषोर्जानश्रुतेः पौत्रायणस्य ब्रह्मज्ञानवैकल्येन हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणान्न ब्रह्मविदो रैक्वस्य सकाशं प्रत्याद्रवणाच्छुगस्य सञ्जातेति हि सूच्यते, अतस्स शूद्रेत्यामन्त्र्यते; न चतुर्थवर्णत्वेन । शोचतीति हि शूद्रः, *शुचेर्दश्च इति रप्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति । अतश्शोचितृत्वमेवास्य शूद्रशब्दप्रयोगेन सूच्यते, न जातियोगः ।

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—शूद्र का ब्रह्मोपासना में अधिकार सम्भव नहीं है । [सामर्थ्य तीन प्रकारका होताहै—ज्ञान, शक्ति और शास्त्रानुमति । शूद्रों का समस्त वैदिक कर्मो में अधिकार नही हैं, इस

विषय में महर्षि जैमिनि ने युक्तियों को बतलाया है आगे प्रमाण भी बतलायेंगे। शूद्रों में ब्रह्मोपासना के अनुकूल ज्ञान रूपी भी सामर्थ्य नहीं है, इस बात को बतलाते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं—] ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्म की उपासना के प्रकार को नही जानने वाले तथा उसके अङ्गभूत यज्ञादि में जिनका अधिकार नही है उन शूद्रों का उपासना के अनुष्ठान [उपसंहार] का सामर्थ्य नही है। उनका असामर्थ्य इसलिए उपासना में है कि वे वेदो का अध्ययन नहीं कर सकते है। जिस तरह कि ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीनों वर्णों को अपना विषय बनाने वाले अध्ययन विधि के द्वारा सिद्ध जो स्वाध्याय उसके द्वारा साध्य जो ज्ञान का लाभ होने के कारण कर्मो का विधान करने वाले विधि वाक्य ज्ञान और ज्ञान के साधन भूत अध्ययन, तदुपयोगी अर्थ विचार आदि को, त्रैवर्णिक व्यतिरिक्त [शूद्र] के लिए नहीं स्वीकार करती हैं उसी तरह ब्रह्म की उपासना का विधान करने वाले वाक्य भी त्रैवर्णिक विषयक ही हैं शूद्र विषयक नहीं। अध्ययन विधि के द्वारा प्राप्त होने वाला जो वेदों का अध्ययन जन्म ज्ञान वही ब्रह्मोपासना का उपाय है। अतएव शूद्र का ब्रह्मोपासना में सामर्थ्य सम्भव नही है। इतिहास और पुराण भी चूंकि वेद की व्याख्या ही करते है अतएव वे ब्रह्मोपासना के उपाय है। स्वतन्त्र रूप से शूद्रों को इतिहास एवं पुराणो के श्रवण की अनुज्ञा नहीं दी गयी है अपितु उनके पापों की क्षय रूपी फल की प्राप्ति के लिए ही उनके श्रवण की आज्ञा दी

गयी है, उपासना के लिए नहीं। [अब प्रश्न यह है कि तो फिर कैसे विदुर आदि की उपासना सम्भव हुई। वे लोग तो ब्रह्म ज्ञानी माने जाते हैं ? तो इसका उत्तर है कि—] विदुर आदि तो इस लिए ज्ञानी हुए कि उनके पूर्व जन्म का ज्ञान नष्ट नहीं हुआ था। और प्रारब्ध कर्म के कारण उनके योगी होने पर भी उनका शूद्र वंश में जन्म हुआ। इसलिए वे ब्रह्म ज्ञानी हुये। [अतएव उनकी भी शूद्र वंश में जन्म लेने पर पहले ब्रह्मोपासना में प्रवृत्ति नहीं थी बल्कि उनकी तो ब्रह्मनिष्ठा पूर्व जन्म की ही थी। इस जन्म में तो उनके पूर्व जन्म का ज्ञान केवल अनुवृत्त होता रहा। यदि कोई यह कहे कि विदूर आदि को तो इतिहास और पुराणों के सुनने मात्र से ही ब्रह्म ज्ञान हो गया था तो ऐसी बात नहीं है। शौनक महर्षि स्पष्ट कहते हैं—

धर्म व्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जुगुप्सिते।
वर्णावरत्वे संप्राप्ताः संसिद्धिं श्रमणीयथा॥

अर्थात् धर्मराज (विदुर) व्याधि आदि भी जो निन्दित शूद्र योनि प्राप्त करके शबरी के समान मोक्ष को प्राप्त किये उसका भी कारण पूर्व जन्म का अभ्यास मात्र ही था।

और संवर्ग विद्या में जो शुश्रूषु जानश्रुति को महर्षि रैक्व ने शूद्र शब्द से सम्बोधित किया है, उसके द्वारा भी शूद्रों का ब्रह्मोपासना में अधिकार की सूचना नहीं मिलती है। क्योंकि सूत्रकार स्वयं कहते हैं कि—जानश्रुति को शूद्र शब्द से इसलिए कहा गया है कि वह शोक युक्त था। उस शोक कारण यह था

कि स्वयं राजा हंसरूप धारी महर्षियों के मुख से अपना अनादर सुन चुका था और उस अनादर श्रवण जन्य शोक का कार्य यह हुआ कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वह शीघ्र ही महर्षि रैक्व की सन्निधि में गया। इस अर्थ की सूचना 'शुगस्य तदनादर श्रवणादाद्रवणात्' सूत्र से मिलती है। शुश्रुषु ज्ञान श्रुति पौत्रायण के ब्रह्म ज्ञान का अभाव देखकर हंसों के द्वारा कहे गये अनादर पूर्ण वाक्य को सुनकर तत्काल ब्रह्मज्ञानी रैक्व के सन्निकट जाने से इस बात का पता चलता है कि इसको शोक हो गया था। अतएव शोक युक्त होने के ही कारण उसे शूद्र शब्द से अभिहित किया गया है शूद्र योनि में उत्पन्न नहीं था वह राजा।

जो शोच करे उसे शूद्र कहते शोचयतीत ही शूद्रः' इस अर्थ में शुच् धातु से 'शुचेर्दश्च' (उणादि सू० १७६) इस औणादिक सूत्र से रैक् प्रत्यय होकर धातु के उपधाभू शु के उकार का दीर्घ तथा च का द होकर शूद्र शब्द बना है। अतएव इस शूद्र शब्द के प्रयोग से जान श्रुति के शोक युक्त ही होने की सूचना मिलती है, शूद्र जाति का होने की नहीं।

टिप्पणी—यथैव हि-इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि यद्यपि यज्ञादि अग्नि तथा विद्यासापेक्ष हैं फिर उसके प्रति आन्यर्थाधान तथा विद्यार्थाधान की प्रेरकता नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि अग्न्याधान विधि तथा अध्ययन विधि ये दोनों स्वतन्त्र विधियां हैं। अग्न्याधान में शूद्रों का अधिकार इसलिए

नहीं माना जा सकता है कि अग्न्याधान का विधान ब्राह्मणों के ही लिए किया गया है। आहवनीयादि अग्नियो को छोड़कर अन्य अग्नियो में आहुति इसलिए नही दी जा सकती है कि वैसा कर्म करने पर काम्य कर्मो का कोई फल नही होगा। इस तरह अध्ययन विधि तथा अग्न्याधान विधि ब्रह्मपाद त्रैवर्णिक सम्बन्धी ही है। तथा इनसे सम्बन्धित यज्ञादि में शूद्रों का अधिकार नहीं है। अतः वेदानध्ययन के कारण वैदिकोपासना में भी शूद्रो का अधिकार सम्भव नहीं है।

'शुगस्य तदनादर श्रवणात् तताद्रवणात् सूच्यते हि।' इस सूत्र का अन्वयार्थ इस प्रकार है—हि=चूँकि, तदानादर श्रवणात्=प्रसिद्ध हंस रूपधारी महात्माओं द्वारा अनादर युक्त वाक्य को सुनकर; अस्य=इस राजा जान श्रुति पौत्रायण को; शुक्=शोच हो गया था इस अर्थ की सूचना इसलिए मिलती है कि वह शीघ्र ही रैक्व के सन्निकट में; आद्रवणात्=ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गया। इस सूत्र का अनादर श्रवण रूपी कारक हेतु है। क्योकि वह शोक को उत्पन्न करता है। और आद्रवण=यह ज्ञापक हेतु है क्योंकि इसके द्वारा पता चलता है कि ब्रह्मज्ञान वैकल्प का जानश्रुति को शोक है।

मूल—जानश्रुतिः किल पौत्रायणो बहुद्रव्यप्रदो बह्वन्नप्रदश्च बभूव। तस्य धार्मिकाग्रेसरस्य धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चिन्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पिपादयिषतोः हंसरूपेण

निशायामस्याविदूरे गच्छतोरन्यतर इतरमुवाच—❀भो भोयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीत❀इति

एवं जानश्रुतिप्रशंसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य परोहंसः प्रत्युवाच ❀कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ ❀इति। कं सन्तमेनं जानश्रुतिं सयुग्वानं रैक्वं ब्रह्मज्ञमिव गुणश्रेष्ठमेतदात्थ, स ब्रह्मज्ञो रैक्व एव लोके गुणवत्तरः। महता धर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य को गुणः, यद्गुणजनितं तेजो रैक्वतेज इव मां दहेदित्यर्थः। एवमुक्तेन परेण कोऽसौ रैक्व इति पृष्टः लोके यत्किंचित्साध्वनुष्ठितं कर्म, यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञानकर्मान्तर्भूतम्; स रैक्व इत्याह। तदेतद्धंसवाक्यं ब्रह्मज्ञानविधुरतया आत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तया च रैक्वप्रशंसारूपं जानश्रुतिरुपश्रुत्य तत्क्षणादेव क्षत्तारं रैक्वान्वेषणाय प्रेष्य तस्मिन्विदित्वा आगते स्वयमपि रैक्वमुपसद्य गवां षट्शतं निष्कमश्वतरीरथं च रैक्वायोपहृत्य रैक्वं प्रार्थयामास ❀अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से

इति । त्वदुपास्यां परां देवतां ममानुशाधीत्यर्थः । स च रैक्वस्स्वयोगमहिमविदितलोकत्रयो जानश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानविधुरतामिमित्तानादरगर्भहंसवाक्यश्रवणेन शोकाविष्टतां तदनन्तरमेव ब्रह्मजिज्ञासयोद्योगं च विदित्वाऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय चिरकालसेवां विना द्रव्यप्रदानेन शुश्रूषमाणस्यास्य यावच्छक्तिप्रदानेन ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन् तस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यापिकां शूद्रशब्देनामन्त्रणेन ज्ञापयन्निदमाह—*अहहारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु इति । सह गोभिरयं रथस्तवैवास्तु; नैतावता मह्यं दत्तेन ब्रह्मजिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः । स च जानश्रुतिर्भूयोऽपि स्वशक्त्यनुगुणमेव गवादिकं धनं कन्यां च प्रदायोपससाद । स रैक्वः पुनरपि तस्य योग्यतामेव ख्यापयन् शूद्रशब्देनामन्त्र्याह— *आजहारेमाश्शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः इति । इमानि धनानि शक्त्यनुगुणान्याजहर्थं, अनेनैव द्वारेण चिरसेवा विनाऽपि मां त्वदभिलषितं ब्रह्मोपदेशरूपवाक्यमालापयिष्यसीत्युक्त्वा

तस्मा उपदिदेश । अतश्शूद्रशब्देन विद्योपदेशयोग्यता-ख्यापनार्थं शोक एवास्य सूचितः; न चातुर्थवर्णत्वम् ॥३३॥

अनु०—प्रसिद्ध है कि पौत्रायण जानश्रुति बहुत द्रव्यों तथा बहुत अन्न का दान देते थे। उस धार्मिकों में अग्रगण्य राजा के धर्म से प्रसन्न, राजा के भी मनमें ब्रह्म संबन्धी जिज्ञासा को उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले, और रात्रि में इस राजा के सन्निकट से ही होकर जाते हुए हंस रूपधारी दो महात्मा एक दूसरे से वार्तालाप करना प्रारम्भ किये। प्रथम हंस ने कहा—हे मल्लाक्ष जानश्रुति पौत्रायण का तेज स्वर्ग तक फैल चुका है अथवा दिन के सदृश सर्वथा प्रकाशमान है। तुम उसमें मत आशक्त होना। कहीं वह तेज तुम्हे जला न दे। (छा० उ० ४।१।२) इस तरह से जानश्रुति की प्रशंसा सुनकर दूसरा हंस बोला—अरे यह जानश्रुति राजा किस तुच्छ प्रभाव से युक्त हैं जिसकी प्रशंसा भरी बातें तुम शकट से युक्त रैक्व की महिमा जैसी बतलाते हैं। (छा० उ० ४।१।३) अर्थात् किस इस जानश्रुति को शकट से युक्त श्रेष्ठ गणों से युक्त ब्रह्मज्ञानी रैक्व के समान यह प्रशंसा कर रहे हो? वे प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी रैक्व ही श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के कारण लोकोत्तर हैं। महान धार्मिक भी इस जानश्रुति के ब्रह्मज्ञानी नहीं होने के कारण इसके कौन से गुण हैं? जिन गुणों के कारण उत्पन्न तेज मुझे जला देगा? इस प्रकार से कहे गये प्रथम् हंस के द्वारा यह पूछे जाने पर कि ये रैक्व कौन हैं? दूसरे हंस ने कहा—संसार के प्राणियों

द्वारा जितने अच्छे कर्म किये गये हैं, तथा संसार के सभी जीवों का जो ज्ञान है, ये दोनों प्रकार की वस्तुएँ जिसके ज्ञान और कर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं, वे ही महर्षि रैक्व हैं। इस तरह से हंस के वाक्य को सुनकर जो वाक्य आत्मज्ञानी नहीं होने से उनकी निन्दा से युक्त था तथा आत्मज्ञानी होने के कारण रैक्व की प्रशंसा से पूर्ण था, जानश्रुति ने तत्काल ही क्षत्ता को रैक्व का पत्ता लगाने के लिए भेज दिया और यह जानकर कि महर्षि रैक्व आ गये हैं, तुरत उनके सन्निकट में आकर छह सौ गायें, निष्क (स्वर्णमुद्राएँ) घोड़ियाँ तथा रथ को रैक्व महर्षि के लिए उपहार रूप में लाकर प्रार्थना करने लगा। 'हे ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभो . आप इस उपहार को स्वीकार करें तथा उस देवता का हमें उपदेश दें जिस देवता की आप उपासना करते हैं।। (छा० उ० ४।२।२) अर्थात् आप जिस परा देवता की उपासना करते हैं उसे हमें बतलायें। और वे जो रैक्व थे, अपने योग की महिमा के द्वारा तीनों लोकों के बातों को जानते थे। जानश्रुति के ब्रह्मज्ञानी न होने के कारण अनादर पूर्ण हंस की बातें सुनने से शोक युक्त होने को और उसके पश्चात् ही ब्रह्म की जिज्ञासा के कारण ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उसके प्रयास को जानकर उसके ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की योग्यता को समझ कर दीर्घकाल पर्यन्त सेवा किये बिना ही द्रव्य प्रदान के द्वारा सेवा करने की इच्छा वाले इस राजा के अपनी पूर्ण शक्ति भर दान करने से ब्रह्म विद्या सुस्थिर-

होती है, यह विचार करके उसके ऊपर कृपा करते हुए उपदेश की योग्यता को बतलाने वाली उस राजा की शोक मुक्तता को शूद्र शब्द के सम्बोधन के द्वारा अभिव्यक्त करते हुए यह बोले—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु।' अर्थात् हे शोकाविष्ट राजन् जानश्रुते। इन गौओं तथा रथों को तुम अपने ही पास रखो इतने ही मात्र मुझको ब्रह्म को जानने की इच्छा से दान देने से शोक संतप्त तेरी ब्रह्म विद्या नहीं प्रतिष्ठित हो सकती है। और वह जानश्रुति पुनः अपनी शक्ति के अनुसार गौ आदि सम्पत्ति तथा कन्याओं को लेकर महर्षि रैक्व की सेवा में उपस्थित हुआ। वे रैक्व पुनः उसकी केवल योग्यता को ही बतलाते हुए राजा को शूद्र शब्द से अभिहित करते हुए कहे—'आगहारेमाः शूद्र। अनेनैव मुखेनालापयिष्यथाः' (छा०४।२।२५) अर्थात् हे शोकाविष्ट राजन्। इन धनों को अपनी शक्ति के अनुसार लाओ। दीर्घकाल तक आचार्य की (मेरी) सेवा किये बिना भी इन सबों के ही द्वारा मैं तुम्हारे लिए अभिलषित ब्रह्मोपदेश रूप वाक्यों को कहूँगा। यह कहकर राजा को ब्रह्म विद्या का महर्षि रैक्व ने उपदेश दिया—अत एव शूद्र शब्द के द्वारा उसकी ब्रह्म विद्योपदेश की योग्यता को बतलाने के लिए जानश्रुति के शोक को ही सूचित किया गया है। उसकी शूद्रत्व जाति को नहीं सूचित किया गया है ॥ ३३ ॥

६६ क्षत्रियत्वगतेश्च ।१।३।३४॥

मूल– ❀बहुदायीति दानपतित्वेन ❀बहुपाक्यः इत्यादिना

*सर्वत एवमेतदन्नमत्स्यन्तीत्यन्तेन बहुतरपक्वान्नप्रदायित्व-प्रतीतेः *स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचेति क्षत्तृप्रेषणाबहुग्रामप्रदानाञ्चगतञ्जनपदाधिपत्याच्चास्य जानश्रुतेः क्षत्रियत्वप्रतीतेश्च न चतुर्थवर्णत्वम् ॥३४॥

अनु०—इसलिए भी शूद्र शब्द का प्रयोग जानश्रुति को शूद्र जाति का सूचक नहीं हो सकता है कि–श्रुति उसे 'बहुदायी' शब्द से दानपति बतलाती है। श्रुति (४।१।१) में 'बहुपाक्यः' से लेकर 'सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्ति।' पर्यन्त इसकी बहुत लोगों को पक्वान प्रदाता रूप से प्रतीत होती है। किञ्च आत्मनिन्दागर्भ हंसों के वाक्योंको सुनकर वह क्षत्ता को रैक्व का पता लगाने के लिए भेजता है। इस अर्थ को 'सह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच। (४।१।५ अर्थात् किसी तरह रात को बिता कर प्रातः काल जगते ही प्रतिलोम जाति विशेष के अन्तः पुर रक्षक क्षत्ता से बोले—) इत्यादि श्रुति बतलाती है। किञ्च अनेक ग्रामों को दान देने से जनपदाधिपतित्व रूप से इस जानश्रुति के क्षत्रियत्व की प्रतीति होती है। अतएव भी यह शूद्र शब्द जानश्रुति के शूद्रत्व जाति का सूचक नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—सूत्रकार का अभिप्राय है कि चूंकि संवर्ग विद्या के आरम्भ में श्रुतियों को देखने से पता चलता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था अतएव रैक्व प्रोक्त शूद्र शब्द जानश्रुति को शूद्रत्व जाति का सूचक नहीं हो सकता है। श्रीभाष्यकार स्वामी

कहते हैं कि जानश्रुति के क्षत्रियत्व के सूचक संवर्ग विद्या के प्रारम्भ में चार हेतु प्रतीति होते हैं।

१- दानपतित्व-जानश्रुति के इस गुण को श्रुति (छा० उ० ४।१।१) का 'बहुदायी' पद बतलाता है।

२- बहुत से लोगों को पकाया हुआ (सिद्ध) अन्न खिलाना 'बहुपाक्यः आस। इत्यादि श्रुति जानश्रुति के इस गुण को बतलाती है।

३- क्षत्ता को रैक्व का पता लगाने के लिए भेजना—इस अर्थ को 'सह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाच' (४।१।५) श्रुति बतलाती है। क्षत्ता उस प्रतिलोम गति विशेष को कहते हैं जो ब्राह्मण की कन्या में वैश्य जाति के पुरुष से उत्पन्न हुआ हो। क्षत्ता जाति की जीविका का साधन राजा के अन्तः पुर की रक्षा हुआ करती है।

वैश्यात् ब्राह्मण कन्यायां क्षत्तानाम प्रजायते।
जीविकावृत्तिरेतस्य राजान्तः पुररक्षणम्॥

४- जनापदाधिपत्यता—क्योंकि ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए शुश्रुषा के बदले में बहुत सी सम्पत्तियों के साथ-साथ रैक्व को बहुत से गावों का भी दान देता है। विद्या की प्राप्ति के साधन तीन बतलाये गये हैं।

(क) आचार्य परिचर्या (ख) पुष्कलधन प्रदान तथा (ग) किसी विद्या के बदले में दूसरी विद्या का प्रदान गुरु शुश्रुषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थो नेह दृश्यते।

जानश्रुति ने रैक्व की दीर्घकाल पर्यन्त परिचर्या नहीं की, और न तो ब्रह्मोपदेश के बदले में कोई दूसरी विद्या ही रैक्व को दे सकता था अतएव पुष्कल धन प्रदान के द्वारा ब्रह्मोपदेश को चाहते हुए उसने रैक्व को बहुत से ग्रामों को भी दिया। इस अर्थ को—

'ते हैते रैक्वपर्णानाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास'
(छां० उ० ४।२।५)

अर्थात् महावृष नामक प्रदेश में विख्यात् जो रैक्ववर्णा नामक हैं जहां-पर रैक्व रहे उन ग्रामों को राजा ने रैक्व को दे दिया। इन चार विशेषताओं के कारण प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था।

यहां पर यह शंका की जा सकती है कि यह कोई नियम नहीं है कि दानपति शूद्र न हो। कर्ण सूत पुत्र माना जाता था किन्तु वह महाभारत में दानी बतलाया गया है। अवेष्टिनय वार्तिक में बतलाया गया है कि—"राज्यम विशेषेण चत्वारो वर्णाः कुर्वाणा दृश्यन्ते।" अर्थात् समान रूप से चारो वर्णों के लोग राज्य करते हुए देखे जाते हैं। व्यास स्मृति के शूद्र प्रकरण में भी शूद्रों को धर्मार्थ धन संचय की आज्ञा दी गयी है। 'राज्ञा वासमनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः। पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः॥" अर्थात् राजा से रहने की आज्ञा प्राप्तकर धार्मिक शूद्र को यथेष्ट मात्रामें धन संचय करना चाहिए। पापी ही शूद्रधन प्राप्त कर अपने बड़े त्रैवर्णिकों को अपना वश-

वर्ती बनाकर सताता है।" तो यह शंका इस लिए उचित नहीं है कि शूद्र के दानपति होने पर भी, शेष तीन हेतु जो है वे क्षत्रियत्व के लिये अविचाली हेतु है। क्योकि शूद्र क्षत्ता को नौकर के रूप में नहीं भेज सकता है, रैक्व के द्वारा निवास किये गये ग्रामों को उनके लिये दान दिया जाना तथा राज्याधिपति होना क्षत्रियों का ही धर्म है। किञ्च रैक्व जैसे महर्षि शूद्रों का दान कैसे ले सकते थे, तथा शूद्रो की नगरी में कैसे टिक सकते थे!

मूल—तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्वप्रतीतिरुक्ता, उपसंहारगताख्यायिकायामपि क्षत्रियत्वमस्य प्रतीयत इत्याह—

१०० उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।१।३।३५॥

अस्य जानश्रुतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्तरत्र कीर्त्यमानेनाभिप्रतारिनाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं गम्यते । कथम् ? ❀अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे इत्यादिना ❀ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे इत्यन्तेन कापेयाभिप्रतारिणोर्भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणश्च संवर्गविद्यासंबन्धित्वं प्रतीयते । तेषु

चाभिप्रतारी क्षत्रियः; इतरो ब्राह्मणौ । अतोऽस्यां विद्यायां ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रियस्यैवान्वयो दृश्यते, न शूद्रस्य । अतोऽस्यां विद्यायामन्विताद्रैक्काद्ब्राह्मणादन्यस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम्, न चतुर्थवर्णत्वम् । नन्वस्मिन्प्रकरणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च न श्रुतम्; तत्कथमस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम् ? कथं वा क्षत्रियत्वम् ? तत्राह— लिङ्गादिति । *अथह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम इत्यभिप्रतारिणः कापेयसाहचर्याल्लिङ्गादस्याभिप्रतारिणः कापेयसंबन्धः प्रतीयते । अन्यत्र च *एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन् इति कापेयसंबन्धिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते, तथा चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं *तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत इति । अतोऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च गम्यते ॥३५॥

अनु०—इस तरह बतलाया गया कि संवर्ग विद्या के प्रारम्भ की आख्यायिका में जिज्ञासु के क्षत्रिय होने की प्रतीति होती है । अब इस (१।३।३५) सूत्र में यह बतलाया जा रहा है कि इस संवर्ग विद्या के उपसंहार में भी आयी हुई आख्यायिका के द्वारा प्रतीति होता है कि—जिज्ञासु क्षत्रिय ही है।

वह सूत्र है—

उत्तरत्र चैत्र रथेन लिङ्गात् ।१।३।३५।।

अर्थात्—इस जानश्रुति को जिस संवर्ग विद्या का उपदेश दिया गया है उसी विद्या के उपसंहार भाग मे वर्णित अभिप्रतारी नामक चैत्ररथ क्षत्रिय के साथ जानश्रुति का संबन्ध होने से प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय ही हैं। [यह सूत्रका अर्थ हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि चित्ररथ क्षत्रिय है तो जानश्रुति भी क्षत्रिय है, यह (कैसे कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर है कि—सवर्ग विद्या में—'अथ ह शौनकं च कायेयमभि प्रतारिणं च काक्षसेनि परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे।' [छा० ४।३।५] अर्थात् कपि गोत्र के शुनक महर्षि के पुत्र शौनक नामक एक ब्राह्मण तथा कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारि नामक क्षत्रिय ये दोनो भोजन करने बैठे थे, पाचक परोसकर खिला रहे थे, उसी समय आकर एक संवर्ग विद्योपासक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी। उस श्रुति से प्रारम्भ करके 'ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्म हे।' [छा० उ० ४।३।७] अर्थात् हे ब्रह्मचारिन्! हम इसकी उपासना नहीं करते हैं। इस श्रुतिपर्यन्त कापेय और अभिप्रतारि का, तथा भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी का भी संवर्ग विद्या में संबन्ध प्रतीत होता है। इन तीनों मे अभिप्रतारी क्षत्रिय है। और शेष [शौनक और ब्रह्मचारी दोनों] ब्राह्मण हैं। अतएव इस विद्या में ब्राह्मण का तथा इससे भिन्न [पञ्चाग्नि विद्या] इत्यादि—विद्याओ में क्षत्रिय

का ही संबन्ध सुना जाता है। शूद्र का किसी भी विद्या में संबन्ध नहीं सुना जाता। अतएव इस विद्या में संबन्धित रैक्व को छोड़कर उनसे भिन्न जानश्रुति को भी क्षत्रिय ही मानना उचित नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि संवर्ग विद्या में जो अभिप्रतारि वर्णित हैं उनको श्रुति न तो चित्ररथ के पुत्र रूप से बतलाती है और न तो क्षत्रिय रूप से। अतएव कैसे कहा जा सकता है कि अभिप्रतारी क्षत्रिय थे। तथा चित्ररथ के पुत्र थे? तो इसका उत्तर सूत्रकार 'लिङ्गात्' इस सूत्र के अंश से देते हैं। तात्पर्य है कि 'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम्' (छा० ४।३।५) इस श्रुति में अभिप्रतारी का कापेय शौनिक के साहचर्य रूपी लिङ्ग [प्रमाण] के द्वारा इस अभिप्रतारी का कापेय के साथ सन्बन्ध प्रतीत होता है। और ताण्ड्य महा ब्राह्मण की 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्' [२०। १२।५] अर्थात् इस चैत्ररथद्विरात्र के द्वारा कापेय नामक पुरोहितों ने चैत्ररथ का यजन करवाया।' इस श्रुति में भी चैत्ररथ का कापेय से संबन्ध सुना जाता है। और चैत्ररथ क्षत्रिय थे इस अर्थ का पता निम्न शतपथ ब्राह्मण की श्रुति से चलता है। वह है—'तस्माच्चैत्ररथो नामकः क्षत्रपतिरजायत [शा० ब्रा० ११।५।३।१३] उससे चैत्ररथ नाम के एक क्षत्रिय उत्पन्न हुए। यह श्रुति बतलाती है कि अभिप्रतारी चित्ररथ के पुत्र तथा क्षत्रिय थे।

टिप्पणी—उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्-सूत्र के द्वारा निम्न चार अनुमान अभिप्रेत हैं। [१] सँवर्ग विद्या के उपक्रम भाग में सुना गया जानश्रुति क्षत्रीय-ही है। क्योंकि वह संवर्गविद्या से सम्बन्धित होने पर भी ब्राह्मणेतर है। संवर्ग विद्या के उप-संहार भाग में वर्णित अभिप्रतारी के समान। [२] अभिप्रतारी क्षत्रिय हैं क्योंकि वे चित्ररथ के पुत्र हैं। [३] अभिप्रतारी चित्ररथ के वंश में उत्पन्न है। क्योंकि वह कापेय याज्य है। [४] चित्ररथ क्षत्रिय हैं क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के। ११। ५। ३। १३) श्रुति में वह क्षत्रपति रूप से वर्णित हैं।

'एतेन वै चैत्ररथं कापेयाअयाजयन्' (ता॰ म॰ ब्रा २०। १२। ५) इस श्रुति के विषय में उत्तामूर वीरराघवाचार्य का कहना है कि चैत्ररथं के स्थान पर चित्ररथीं ही शुद्ध पाठ होना चाहिये। क्योंकि चैत्ररथ तो नाम है नहीं। नाम तो चित्र-रथ ही है। वे ताण्ड्य महा ब्राह्मण की श्रुति के अनुपूर्वी को इस प्रकार से उद्धृत करते हैं—एतेन वै चित्ररथ कापेया अया-जयन्। तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वन्। तस्माच्चैत्ररथीनामेक क्षत्रपतिरजायत। तुलुम्ब इव द्वितीयः।" इस श्रुति के पहले आंगिरस द्विरात्र वर्णित हो चुका है। प्रस्तुत श्रुति का चैत्ररथ द्विरात्र से सम्बन्ध है। अतएव एतेन पद का अर्थ है— चैत्ररथ द्विरात्र के द्वारा। निश्चय है कि कपिगोत्रोत्पन्न महर्षियों ने चित्ररथ का पूजन कराया। और उस अकेले चित्ररथ के भोग्य वर्ग को देखा। इससे चैत्ररथी नामक एक क्षत्रपति हुआ और दूसरा उसका अनुचर बन गया।

चूंकि श्रुति के उपसंहार भाग में संवर्ग विद्या में ब्राह्मण और क्षत्रिय का ही सम्बन्ध देखा जाता है अतएव इस विद्या के उपक्रम में वर्णित जानश्रुति को भी क्षत्रिय ही होना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध ब्राह्मण रैक्व से था। और उपक्रम तथा उपसंहार में न्याय की एकता सब लोगों को अभिमत है।

मूल—तदेवं न्यायविरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिङ्गं नोपलभ्यत इत्युक्तम्। इदानीं न्यायसिद्धश्शूद्रस्यानधिकारश्श्रुतिस्मृतिभिरनुगृह्यत इत्याह—

१०१ संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च

। १ । ३ । ३६ ॥

ब्रह्मविद्योपदेशप्रदेशषूपनयनसंस्कारः परामृश्यते—❀उप त्वा नेष्ये ❀तं होपनिन्ये इत्यादिषु। शूद्रस्य चोपनयनादिसंस्काराभावोऽभिलप्यते ❀न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ❀चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हतीत्यादिषु ॥३६॥

अनु० —इस तरह अपशूद्राधिकरण के सूत्रो द्वारा बतलाया गया कि ब्रह्मविद्या में शूद्रों का अधिकार न्याय विरोधी है अतएव ब्रह्मविद्या में शूद्रों का अधिकार होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। (और ब्रह्म विद्या में शूद्रों के अनधिकार में

में दो प्रकार का लिङ्ग [प्रमाण] मिलता है—(१) शूद्र शब्द की रूढ़ि से सिद्ध अर्थ विरोधी लिङ्ग तथा (२) यौगिकार्थानु गुणत्व लिङ्ग। अतएव आगे के [१।३।३६] सूत्र में अब यह बतलाया जा रहा है कि श्रुतियों तथा स्मृतियों के अनुसार ब्रह्म विद्या में शूद्रों के अधिकार का अभाव न्याय सिद्ध है। वह सूत्र है—

संस्कार परामर्शात् तदभावाभिलायाच्च ॥ १।३।३६ ॥

अर्थात् ब्रह्मविद्या में शूद्रों का अधिकार निम्न दो कारणों से भी नहीं हो सकता है। (१) संस्कार परामर्शात् अर्थात् विद्या प्राप्ति के लिए उपनयन संस्कार अपेक्षित होता है। (२) तदभावाभिलायाच्च=अर्थात् शूद्रों के लिए उपनयनादि संस्कारों की अपेक्षा नहीं होती है। यह सूत्र का अर्थ है।

ब्रह्म विद्या के उपदेश स्थल में सब जगह उपनयन संस्कार की आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे (छा० उ० ४।४।५) श्रुति में ब्रह्म विद्या का उपदेश देने वाले आचार्य कहते हैं—मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार करूंगा।' इसी तरह आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में कहा गया है कि—'निश्चय ही आचार्य ने उस शिष्य का उपनयन संस्कार किया' इन सभी वाक्यों में विद्योपदेश के लिए उपनयन संस्कार आवश्यक बतलाया गया है। और मनु स्मृतिकार शूद्रों के उपनयन आदि संस्कारों का अभाव बतलाते हुए कहते हैं। 'नशूद्रे पातकं किञ्चित् न च

संस्कार मर्हति ।' (म० स्मृ० १० । १२६) अर्थात् शूद्र को संस्कार तथा अध्ययन आदि के नहीं करने से कोई पाप नहीं लगता है अतएव उसको उपनयनादि संस्कार की योग्यता नहीं है । (यहां पर यदि कोई यह कहे कि मनुस्मृति में ही शूद्र के मन्त्र रहित संस्कार को बतलाया गया है।—

धर्मोसवस्तु धर्मज्ञास्सतां वृत्तिमनुव्रताः ।
मन्त्र वर्ग न दूष्यन्ति प्रशंसां पाप्नुवन्ति च ॥

अर्थात् धर्म को चाहने वाले, धर्म के जानकार और सज्जनों की वृत्ति का आचरण करने वाले शूद्रों के मन्त्र रहित संस्कार को दूषित नहीं माना जाता है और अच्छे लोग उसकी प्रशंसा ही करते हैं। मन्त्र रहित संस्कार को विद्या प्राप्ति के लिए अनुपयोगी नहीं माना जा सकता है नहीं तो फिर मन्त्र रहित मैत्रेथी प्रभृति स्त्रियों के भी संस्कार को भी विद्या प्राप्ति के लिए अनुपयोगी मानना होगा । तो यह शंका उचित नहीं होगी क्योंकि [गौतम सूत्र १० । ९] में बतलाया गया है कि–चतुर्थो वर्णः एकजाति नंच संस्कार मर्हति ॥ अर्थात् चतुर्थ शूद्र वर्ण एक जाति वर्ण माना गया है और उसको किसी भी संस्कार की योग्यता नहीं है ।' [एक जाति कहने का अभिप्राय है कि उपनयन संस्कार के ही कारण त्रैवर्णिकों को द्विजाति माना गया है । शूद्रों का उपनयनादि संस्कार नहीं होता है । अतएव शूद्र वर्णं एकजाति वर्ण है ।

१०२ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।१।३।३७॥

मूल–नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिध सोम्याहरेति शुश्रुषोर्जाबालस्य शूद्रत्वाभावनिर्धारणे सत्येव विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्याधिकारः ॥३७॥

अनु०—अर्थात् चूंकि शूद्रत्व का अभाव निश्चय हो जाने पर ही ब्रह्मविद्या के उपदेश की प्रवृत्ति देखी जाती है । अतएव सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या में शूद्र जाति का अधिकार नहीं हो सकता है । यह सूत्र का अर्थ है । "हे सोम्य ! ब्राह्मण (त्रैवर्णिक) को छोड़कर दूसरा (शूद्र) इस तरह से सत्य नहीं बोल सकता अतएव तुम उपनयनानुकूल समिधा लाओ ? मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार करूँगा ।" [छा० ४।४।५] इस श्रुति के द्वारा जिज्ञासु जाबाल के शूद्रत्व का अभाव निश्चय हो जाने पर ही विद्या के उपदेश की प्रवृत्ति पायी जाने के कारण भी सिद्ध होता है कि शूद्र जाति का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ।

१०३ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ।१।३।३८॥

मूल–शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनंतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते *पद्यु ह वा एतच्छ्मशान यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् *तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीयः इति । बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः । अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञा-

नतदर्थानुष्ठानानि न संभवन्ति; अतस्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव ॥३८॥

अनु०—इसलिए भी शूद्रों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं हो सकता है कि शूद्रों के लिए वेदों का श्रवण, अध्ययन तथा वेदों का ज्ञान एवं वेदोक्त अर्थों का प्रतिषेध शास्त्रों में देखा जाता है। यह सूत्र का अर्थ हुआ। शूद्र के लिए वेद के श्रवण, वेदों का अध्ययन तथा वेदोक्त अर्थों के अनुष्ठान का निषेध निम्न श्रुतियाँ करती हैं—निश्चय ही शूद्र [पशु] जंगम श्मशान है [अर्थात् श्मशान के सदृश अपवित्र है। श्मशान में वेदाध्ययन, एवं श्रवण निषिद्ध है] अतएव शूद्र के समीप में वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। शूद्र यज्ञानई पशु के समान है। इस श्रुति का बहु पशु शब्द सादृश्यार्थक बहुच् प्रत्ययान्त है। जिसने वेदों का श्रवण नहीं किया है उस शूद्र केलिए वेदों का अध्ययन तथा वेदों के अर्थों का ज्ञान एवं अनुष्ठान संभव नहीं है। अतएव शूद्रों के लिए वेदाध्ययन, वेदार्थ का ज्ञान एवं अनुष्ठान भी निषिद्ध ही है। (सूत्र के गत अर्थ शब्द फल का वाचक है। वेदाध्ययन का फल वेदों के अर्थ का ज्ञान तथा उनका अनुष्ठान दोनों है। इसलिए श्रुति बहुपशु शब्द से शूद्र को पशु के सदृश बतलाकर उसको वेदार्थ ज्ञान का अनधिकारी तथा 'अयज्ञीयः' शब्द से शूद्र को वेदोक्तार्थों के अनुष्ठानों का अनाधिकारी बतलाया गया है।)

१०४ **स्मृतेश्च** ।१।३।३९।।

मूल—स्मर्यते च श्रवणादिनिषेधः *अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः इति; *न चास्योपदिशेद्धर्मं नचास्य व्रतमादिशेत् इति च । अतश्शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम् ।।

अनु०—स्मृतियां भी शूद्रों के वेद के श्रवण आदि का निषेध करती हैं अतएव शूद्र ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं हो सकता है। [गौतम धर्म सूत्र १२। ३] में बतलाया गया है कि वह शूद्र जो वेदों का श्रवण आचार्य के सन्निकट में आकर करता है उसके श्रोत्र को रंगा और लाह से भर देने का, शूद्र के वेदोच्चारण करने पर उसके जिह्वा को काट लेने का; तथा वेदोक्तार्थों का धारण करने पर उसके शरीर को काट देने का दण्ड देना चाहिये। एक दूसरा स्मृत्ति वाक्य बतलाता है कि 'न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेन् ।' अर्थात् अनधिकारी होने के कारण शूद्रों को किसी वेदोक्तधर्म का उपदेश नहीं देना चाहिये और न तो उसे किसी शास्त्रीय व्रत का उपदेश देना चाहिये। इस तरह सिद्ध हो गया कि शूद्रों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

मूल—ये तु निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः; अन्यत्सर्वं

मिथ्याभूतम्, बन्धश्चापारमार्थिकः, स च वाक्यजन्य-वस्तुयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यः, तन्निवृत्तिरेव मोक्षः इति वदन्ति, तैर्ब्रह्मज्ञाने शूद्रादेरनधिकारो वक्तुं न शक्यते, अनुपनीतस्य अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थोऽन्यत्सर्वं तस्मिन्परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानोत्पत्ते, तावतैव बन्धनिवृत्तेश्च। न च तत्त्वमस्यादिवाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यान्तरेणेति नियन्तुं शक्यम्, ज्ञानस्यापुरुषतन्त्रत्वात्; सत्यां सामग्र्यामनिच्छतोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः। न च वेदवाक्यादेव वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति बन्धनिवृत्तिर्भवतीति शक्यं वक्तुम्, येन केनापि वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति भ्रान्तिनिवृत्तेः, पौरुषेयादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत्सर्वं मिथ्याभूतमिति वाक्यात् ज्ञानोत्पत्तेस्तावतैव भ्रमनिवृत्तेश्च। यथा पौरुषेयादप्याप्तवाक्याच्छुक्तिकारजतादिभ्रान्तिर्ब्राह्मणस्य शूद्रादेरपि निवर्तते; तद्वदेव शूद्रस्यापि वेदवित्संप्रदायागतवाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन जगद्भ्रमनिवृत्तिरपि भविष्यति।

*नचास्योपदिशेद्धर्ममित्यादिना वेदविदश्शूद्रादिभ्यो न वदन्तीति च न शक्यं वक्तुम्, तत्त्वमस्यादिवाक्याव-गतब्रह्मात्मभावानां वेदशिरसि वर्तमानतया दग्धाखि-लाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिङ्करत्वाभावात्, अतिक्रान्त-निषेधैर्वा कैश्चिदुक्ताद्वाक्याच्छूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव। न च वाच्यं-शुक्तिकादौ रजतादिभ्रमनिवृत्तिवत्पौरुषे-यवाक्यजन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्तत इति, तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं ब्राह्म-णस्यापि जगद्भ्रमानिवृत्तेः। निदिध्यासनेन द्वैतवास-नायां निरस्तायामेव तत्त्वमस्यादिवाक्यं निवर्तकज्ञान-मुत्पादयतीति चेत्, पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रादेस्तथैवेति न कश्चिद्विशेषः। निदिध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मभा-वाभिधायि वाक्यं यदर्थप्रतिपादनयोग्यम् तदर्थभावना; सैव विपरीतवासनां निवर्तयतीति दृष्टार्थत्वं निदिध्यास-नविधेब्रूषे। वेदानुवचनादीन्यपि विविदिषोत्पत्तावेवो-पयुज्यन्त इति शूद्रस्यापि विविदिषायां जातायां पौरुषे-यवाक्यान्निदिध्यासनादिभिर्विपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते, तेनैवापारमार्थिको बन्धो निवर्तिष्यते।

अनु०—जो अद्वैती विद्वान् यह कहते हैं कि निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म ही परमार्थ है। उसको छोड़कर सब कुछ मिथ्या है। यह संसार का बन्धन भी अपारमार्थिक है। और उसकी निवृति तत्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान मात्र से होती है। और मिथ्याबन्ध की निवृति ही मोक्ष है। वे अद्वैती विद्वान् यह नही कह सकते हैं कि ब्रह्म ज्ञान में शूद्रादिकों का अधिकार नहीं है। क्योंकि जिनका उपनयन संस्कार नहीं सम्पन्न हुआ है; जिन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया है। तथा जिन्होंने वेदान्त वाक्यों का श्रवण भी नहीं किया है ऐसे भी शूद्रों को जिस किसी के भी द्वारा यह सुनकर कि निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म ही परमार्थ है, तत्व्यतिरिक्त संपूर्ण जगत् उसी ब्रह्म में परिकल्पित है अतएव मिथ्या है।' इस वाक्य को सुन लेने मात्र से ही वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न हो जाने के कारण उतने मात्र से ही बन्धन की निवृति हो जायेगी। यहाँ पर यह कोई नियम नहीं किया जा सकता है कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के ही द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति करनी चाहिये किसी दूसरे वाक्य से नहीं क्योंकि ज्ञान तो पुरुष के अधीन है नहीं, कि मनुष्य जब चाहे तब हो ज्ञान उत्पन्न हो सामग्री (ज्ञानोत्पत्ति के पूर्ण साधनों) के रहने पर पुरुष के नहीं चाहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। यह भी नही कहा जा सकता है कि वैदिक वाक्यों के द्वारा ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर बन्धन की

निवृत्ति होती है । क्योंकि देखा जाता है कि जिस किसी भी साधन के द्वारा वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाती है । अत. किसी पुरुष के भी सभी विशेषो रहित ज्ञान मात्र ब्रह्म परमार्थ है, ब्रह्म को छोड़कर सभी प्रतीयमान वस्तुए मिथ्या है,—इस तरह के वाक्य से ही ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है, क्योंकि उतने मात्र से ससार भ्रम की निवृत्ति सम्भव है। किसी आप्त पुरुष के भी वाक्य से जिस तरह किसी ब्राह्मण को शुक्ति मे होने वाली रजत की भ्रान्ति निवृत्ति होती है उसी तरह उससे शूद्र के भी शुक्ति रजत भ्रम की निवृत्ति होती है । उसी तरह वैदिक सम्प्रदाय से आये हुए वाक्य से उत्पन्न वस्तु (ब्रह्म) के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के द्वारा शूद्र के भी जगत् के भ्रम की निवृति होगी ।

यहा पर यह शंका नहीं की जा सकती है कि—'न चास्योपदिशेद्धर्मम्'—अर्थात् शूद्रो को शास्त्रीय धर्मो का उपदेश नही देना चाहिये' इस सूक्ति के अनुसार वैदिक विद्वान् शूद्रो से वातचीत ही नहीं करते हैं अतएव वैदिक सम्प्रदायागत वाक्यो का शूद्रो को उपदेश का कोई प्रसङ्ग ही नही आता है । क्योंकि जिनको तत्वमसि आदि वाक्यो के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान की प्राप्ति हो गयी है वे तो वेदान्तनिष्ठ (अद्वैती विद्वान्) वेद के भी शिर पर अपना चरण रख दिये है सारे अधिकार भाव के वेदान्ताग्नि के द्वारा जल जाने के कारण, वे तो वैदिक निषेध

शास्त्र के किंकर हैं नही [कि वैदिक निषेध शास्त्र का पालन कर शूद्रो से बातें न करें । वे सबो को समान रूप से ब्रह्मोपदेश कर सकते हैं । क्योंकि अद्वैती विद्वान् नैष्कार्य्य सिद्धिकार स्वयं कहते हैं--'दग्धाखिलाधिकारत्वाद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः । वर्तमानः श्रुतेमूर्ध्नि नैव स्याद् वेद किंकरेः । अर्थात् ब्रह्म ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा जिनसे सम्पूर्ण अधिकार भाव के जल जाने के कारण श्रुति के शिर पर चढ़े हुए [अथवा वेदान्त निष्ठ मुनि वेदो का दास नही रहता ।]

अथवा जो वैदिक निषेधों का पालन नहीं करते हैं, उन वेदों के जानकार व्यक्तियों से कहे गये वाक्यों को सुनकर शूद्र आदि को ज्ञान की उत्पत्ति होती है । यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस तरह आप्तवाक्य को सुनकर ब्राह्मण और शूद्र को समान रूप से शुक्ति में होने वाला रजतभ्रम निवृत्त होता है उसी तरह पौरुषेय वाक्यों को सुनकर उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान के द्वारा शूद्र को जगत्‌द्‌भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है क्योंकि तब तो फिर तत्त्वमसि आदि वाक्यों को सुनने पर ब्राह्मण के भी जगद्‌भ्रम की निवृत्ति नहीं हो पायेगी । यदि कहें कि निदिध्यासन के द्वारा द्वैतवासना के समाप्त हो जाने पर ही तत्त्वमसि आदि वाक्य जगत् के भ्रम को दूर करनेवाले ज्ञान को उत्पन्न करते हैं । तो पौरुषेय वाक्य भी निदिध्यासन के द्वारा भेद वासना के दूर हो जाने पर जगत् के भ्रम के निवर्तक ज्ञान को शूद्र के लिए उत्पन्न कर देता है, यह मान लेना

चाहिये । क्योंकि दोनों में अर्थ की एकता है, किसी में कोई विशेषता तो है नहीं । क्योंकि—ब्राह्मत्मभाव (आत्मैकत्व विज्ञान) को बतलाने वाले वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है उस अर्थ का ध्यान करना ही निदिध्यासन कहलाता है । वह ही विपरीत वासना को दूर करता है । निदिध्यासन विधि का विषय दृष्ट ही है, अदृष्ट नहीं । अतएव यह मानना होगा कि निदिध्यासन अदृष्ट के द्वारा कुछ नही करता है, क्यों कि वैसा मानने पर निवर्त्य भेदवासना को सत्य ही मानना होगा । अदृष्ट द्वारा ही फल का आपादक निदिध्यासन को मानने पर जिस तरह यज्ञ में शूद्रों का अधिकार नही माना जाता है उसी प्रकार निदिध्वासन में शूद्रों का अधिकाराभाव संभव है । वेदों के अध्ययन आदि का उपयोग तो केवल विविदिषा की ही उत्पत्ति में (अद्वैत मत के अनुसार) होता है अतएव शूद्र की भी विविदिषा की उत्पत्ति हो जाने पर तथा पौरुषेय वाक्य से निदिध्यासन आदि के द्वारा विपरीत वासना के समाप्त हो जाने पर ज्ञान उत्पन्न होयेगा ही । और उसी के द्वारा बन्धन की निवृत्ति हो जायेगी ।

मूल—अथवा तर्कानुगृहीतात्प्रत्यक्षादमुमानाच्च निर्विशेष-स्वप्रकाशाच्चिन्मात्रप्रत्यग्वस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं, तत्कृतवि-विधिविचित्रज्ञातृज्ञेयविकल्परूप कृत्स्नं जगच्चाध्यस्तमिति निश्चित्यैवंभूतपरिशुद्धप्रत्यग्वस्तुन्यनवरतभावनया विप-

रीतवासनांनिरस्यतदेव प्रत्यग्वस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्ष्यन्त इति मिथ्याभूतविचित्रैश्वर्यंविचित्रसृष्टयाद्य· लौकिकानन्तविशेषावलम्बिना वेदान्तवाक्येन न किञ्चित्प्रयोजनमिह दृश्यत इति शूद्रादीनामेव ब्रह्मविद्याया-मधिकारस्सुशोभनः । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीना-मपि ब्रह्मवेदनसिद्धेरुपनिषच्च तपस्विनो दत्तजलाञ्ज-लिस्स्यात् । न च वाच्यं नैसर्गिकलोकव्यवहारे भ्राम्य-तोऽस्य केनचिदयं लौकिकव्यवहारो भ्रमः, परमार्थस्त्वे-वमिति समर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सा जायत इति तत्समर्पिका श्रुतिरप्यास्थेयेति, यतो भवभय-भीतानां साङ्ख्यादय एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सां जनयन्ति; बुभुत्सायां च जातायां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव विविक्तस्वभावाभ्यां नित्यशुद्धस्वप्रकाशाद्वितीयकूटस्थचै-तन्यमेव सत्, अन्यत्सर्वं तस्मिन्नध्यस्तमिति सुविवेचम्। एवंभूते स्वप्रकाशे वस्तुनि श्रुतिसमधिगम्यं विशेषान्तरं च नाभ्युपगम्यते, अध्यस्तातद्रूपनिवर्तिनी हि श्रुतिरपि त्वन्मते । न च सतआत्मन आनन्दरूपताज्ञानायोपनि-

षदास्थेया, चिद्रूपतया एव सकलेतरातद्रूपव्यावृत्तायाः आनन्दरूपत्वात् । यस्य तु मोक्षसाधनतया वेदान्तवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपासनरूपम्; तच्च परब्रह्मभूतपरमपुरुषप्रीणनम्; तच्च शास्त्रैकसमधिगम्यम्, उपासनशास्त्रं चोपनयनादिसंस्कृताधीतस्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकविमोकादिसाधनानुगृहीतमेवास्वोपायतया स्वीकरोति; एवंरूपोपासनप्रीतः पुरुषोत्तम उपासकं स्वाभाविकात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाशयन्बन्धान्मोचयतीति पक्षः, तस्य यथोक्तया नीत्या शूद्रादेरनधिकार उपपद्यते ॥ ३९ ॥

अनु०—अथवा तर्कानुकूल सत्तामात्र के ग्राहक प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा, सभी विशेषताओं से रहित, स्वयं-प्रकाश ज्ञानमात्र आत्मा में अज्ञान का साक्षी होता तथा अज्ञान के ही कारण उसमें अनेक अद्भूत ज्ञातृत्व ज्ञेयत्व रूप भेद तथा सारा प्रतीयमान जगत् अध्यस्त है, यह निश्चित करके, इस प्रकार के शुद्ध आत्मा के स्वरूप चिन्तन में सतत भावना निदिध्यासन) के द्वारा विपरीत वासना को दूर करके, उस ज्ञानमात्र निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार करके शूद्र भी मुक्त हो जायेगे । इसलिए मिथ्याभूत विचित्र (अनिर्वचनीय) ऐश्वर्य सम्पन्न, विचित्र सृष्टि आदि अलौकिक एवं अनन्त भेदो का अलम्बन लेने वाले वेदान्त्य वाक्यों से मोक्ष प्राप्ति का कोई प्रयोजन नहीं है, यह प्रतीत होता है । इस तरह ब्रह्मविद्या में शूद्रों का पूर्णाधिकार उनक (अद्वैतियो) के मत में सिद्ध हो जाता है । और उसी

प्रकार से [केवल तर्कानुगृहीत प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा निर्विशेष आत्मा में उसके अज्ञान साक्षित्व को तथा अज्ञान जन्य अनेक प्रकार के अद्भूत विशेषों को आत्मा में अध्यस्त समझकर शुद्ध आत्मा का सतत भावना रूप निदिध्यासन के द्वारा साक्षात्कार करके) ब्राह्मणों को भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति मान लेने पर बेचारी उपनिषत् को तो तिलाञ्जलि ही दे दी जायेगी । अर्थात् उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाने के कारण उसका पूर्ण बहिष्कार ही हो जायेगा ।]

यहाँ पर अद्वैती विद्वान यह नहीं कह सकते हैं कि अनादि लोक व्यवहार के कारण भ्रान्त इस जीव को किसी के द्वारा यह बतलाये जाने पर ही कि—"यह लौकिक व्यवहार भ्रम है, और वास्तविकता [परमार्थिकता] तो यह है ।" प्रत्यक्ष तथा अनुमान के ज्ञान को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । अतएव उस बुभुत्सा [जानने की इच्छा] को उत्पन्न करने वाली श्रुति को भी रहना अत्यावश्यक है । क्यों कि सांसारिक भय से डरे हुए जीवों को तो सांख्य आदि (हैरण्यगर्भ योगी नैयायिक, वैशेषिक बौद्ध, जैन इत्यादि) ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा वस्तु का निरूपण करके प्रत्यक्षानुमान जन्य बुभुत्सा को उत्पन्न करते रहते हैं । और जानने की इच्छा के उत्पन्न हो जाने पर अलग स्वभाव वाले प्रत्यक्ष तथा अनुमान के ही द्वारा यह असानी से विवेक हो सकता है कि नित्य, शुद्ध, स्वयं, प्रकाश, अद्वितीय तथा कूटस्थ ज्ञान मात्र ही सत्य है, तद्व्यतिरिक्त सभी प्रतीयमान भेद उसी में अध्यस्त हैं । इस तरह के स्वयं प्रकाश आत्मा में वेदों के द्वारा लायी जाने वाली कोई दूसरी विशेषता नहीं प्रतीत होती है । क्योंकि

अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भी श्रुति का एकमात्र प्रयोजन ब्रह्म-व्यतिरिक्त वस्तु—जो उसमें अध्यस्त है—का निवर्तन है ।

यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि सत्ता-मात्र आत्मा को आनन्द स्वरूप बतलाने के लिए उपनिषदों की आवश्यकता है, क्योंकि आत्मा की जो ज्ञान स्वरूपता है, वही उसकी आनन्दरूपता है, क्योंकि वह आत्मा की चिद्रूपता ही उसका अपनी स्वेवर समस्त वस्तु विलक्षणता है । और जिन विशिष्टाद्वैतियों का यह मत है कि-मोक्ष के साधन रूप से वेदान्तवाक्य जिन उपासनारूपी ज्ञान का विधान करते हैं, वे ज्ञान परमपुरुष परंब्रह्म के प्रसादन रूप हैं । उन ज्ञानों को जानकारी केवल शास्त्रों के ही द्वारा होती है । और उपासना शास्त्र जिसका—उपनयन आदि संस्कारों से जिनका संस्कार सम्पादित कर दिया गया है, उसके बाद जिन लोगों ने वेदों का अध्ययन किया है । उस स्वाध्याय के द्वारा उत्पन्न विवेक विमोक आदि के द्वारा अनुगृहीत ज्ञान को ही अपने साधन रूप से स्वीकार करता है । इस प्रकार की उपासना से अत्यन्त प्रसन्न परमात्मा अपने स्वरूप का स्वाभाविक ज्ञान प्रदान कर देते हैं तथा उस उपासक के कर्मजन्य अज्ञान को नष्ट करते हुए उस उपासक जीव को संसार के बन्धन से मुक्त कर देते हैं । इस पक्ष के ही स्वीकार करनेवालों के मतमें उपर्युक्त अपशूद्राधिकरण में वर्णित रीति के अनुसार शूद्र आदि का ब्रह्मविद्या में अधिकाराभाव असंभव है । (अद्वैती विद्वानोंके मत में अपशूद्राधिकरण की नीतियाँ संभव नहीं है ।)

इस तरह श्रीभाष्य अपशूद्राधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।